अभिधर्ममातृका

इन्दु प्रकाशन

८/३ रूपनगर दिल्ली

११०००७

अभिधावृत्तमातृका

सम्पादन एवं व्याख्या

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी

एवं

सुश्री इन्दु अवस्थी

इन्दु प्रकाशन

८/३ रूपनगर दिल्ली

११०००७

इन्दु प्रकाशन
८/३ रूप नगर
दिल्ली—७

१९७७

पृष्ठ संख्या ८+३२+६२ = १०२

मूल्य—पन्द्रह रुपये

मुद्रक—
शुभचिन्तक प्रेस,
दारागंज, इलाहाबाद।

प्रकाशकीय

डा० अवस्थी के चार मौलिक अथवा सम्पादित ग्रन्थों का प्रकाशन हमारे यहां से हो चुका है तथा इनके कुछ ग्रन्थ अन्य संस्थानों से भी प्रकाशित हुए हैं। इन ग्रन्थों का विद्वानों में पर्याप्त आदर हुआ है। आपकी एक अन्य मौलिक रचना पातञ्जल योग शास्त्र : एक अध्ययन को भी हमने प्रकाशन के लिए स्वीकार कर के प्रेस में दे दिया है। इसी बीच आपने वृत्तिसमुच्चय के विशाल संग्रहग्रन्थ की योजना हमारे सामने रखी। उनके प्रस्ताव को स्वीकार करने में साधनों की कमी बाधक थी, तो अस्वीकार करने में उनको विद्वत्ता श्रम और उत्साह से मिलकर बना हुआ उनका प्रभाव बाधक था। थोड़े सोच-विचार के बाद हमने भी साहस करने का निश्चय किया, किन्तु इस शर्त्त के साथ कि वे इसे खण्ड खण्ड में प्रकाशित कराने को तैयार हों। अन्त में यही निश्चय रहा कि इस ग्रन्थ को खण्डों में ही प्रकाशित करके विद्वानों के हाथों में प्रस्तुत किया जाए।

साधनों की कमी रहने के कारण और विद्वान् लेखक के प्रयाग में स्थित रहने के कारण प्रयाग के प्रेसों से ही हमने बात की और अलग-अलग प्रेसों को मुद्रण का कार्य शीघ्रता के लिए दिया गया। फिर भी हमें अपेक्षा से अधिक देर इस ग्रन्थ को आपके हाथों तक पहुँचाने में हो रही है, इसका हमें दुःख है।

वृत्तिसमुच्चय के इस खण्ड अभिधावृत्तमातृका को वर्तमान स्थूल स्वरूप देने का श्रेय शुभचिन्तक प्रेस के स्वामी गिरि बन्धुओं को ही है। मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ, साथ ही इस ग्रन्थ के सम्पादक एवं व्याख्याकार डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी एवं कु० इन्दु अवस्थी एम० ए० की अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमें अवसर प्रदान किया है।

सुशीला शास्त्री

निवेदन

कुछ वर्षों पूर्व भाषाविज्ञान का अध्ययन करते हुये अर्थविज्ञान के प्रकरण में अर्थविषयक आधुनिक चिन्तन को छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अकस्मात् मेरा ध्यान प्राचीन आचार्यों द्वारा किये गये अर्थ विचार की ओर गया। उस समय यह मन में हुआ कि छात्रों के समक्ष एतद्विषयक चिन्तन का एक क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करते हुए उसे प्रस्तुत किया जा सके। इस प्रसंग में मैंने कुछ खोजना चाहा तो मेरा प्रयत्न अन्धकार में भटकने जैसा ही रहा। उसी समय यह विचार हुआ कि एतद्विषयक सामग्री का संकलन किया जाए। प्रयत्न करने पर जब कुछ जानकारी मिली तो ग्रन्थों को खोज पाना दुष्कर लगा। किन्तु गुरुजनों और मित्रों की सहायता से और कभी पुस्तकालय में प्रायः न पढ़ी जाने वाली पुस्तकों को पलटते हुए जो सामग्री मिल सकी है, उसे प्रस्तुत करने का संकल्प किया। समय और साधन के अत्यन्त सीमित रहने के कारण इस कार्य को यथा-समय कर पाना तो संभव न हुआ और न ही इच्छा के अनुरूप। हमारा विचार है कि मीमांसा सूत्र उसके भाष्य, न्याय-सूत्र और उसके भाष्य तथा इनके वार्तिकों इनकी टीका प्रटीकाओं तथा व्याकरण शास्त्र सहित इन शास्त्रों की परम्परा में लिखे गये ग्रन्थों की शब्दशक्ति (अर्थविज्ञान) विषयक सामग्री का एकत्र सम्पादन एवं एतद्विषयक लघु ग्रन्थों का व्याख्या सहित सम्पादन करके विद्वान् पाठकों के समक्ष एक साथ प्रस्तुत किया जा सके।

इस विषय में मैंने कुछ बड़े प्रकाशकों से चर्चा की, किन्तु उन्हें प्रायः उदासीन ही पाया। इस प्रसङ्ग में हम इन्दु प्रकाशन के व्यवस्थापकों के अत्यन्त आभारी हैं कि इन्होंने हमारे प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। किन्तु किन्हीं कारणों से उनका यह विचार बना कि ऐतिहासिक क्रम को छोड़ करके भी अंशों में इस योजना को सम्पन्न किया जाए, तथा लघु ग्रन्थों का प्रकाशन सर्वप्रथम किया जाए। मुझे इस प्रस्ताव को विवशतापूर्वक स्वीकार करना पड़ा, क्योंकि इसके अतिरिक्त अपनी कल्पना को आंशिक रूप से भी साकार करने का कोई उपाय न था। फलतः इसी रूप में वृत्तिसमुच्चय आप के समक्ष क्रमशः प्रस्तुत हो रहा है।

मुझे विश्वास है कि शब्द शक्ति के सम्बन्ध में इस सामग्री को पाकर विद्वानों को प्रसन्नता होगी। इसी विश्वास के साथ यह विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत है।

वृत्तिसमुच्चय के इस विशृंखलित रूप में सर्वप्रथम वाचस्पतिमिश्रकृत तत्त्वबिन्दु; मुकुलभट्टकृत अभिधावृत्तमातृका, मम्मटकृत शब्दव्यापारविचार, अप्पयदीक्षितकृत वृत्तिवार्त्तिक, आशाधरभट्टकृत कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका, तथा मौनिकृष्णभट्ट कृत वृत्तिदीपिका पृथक्-पृथक् प्रस्तुत हो रही हैं। शब्दशक्तिविषयक सुविदित शब्दशक्ति प्रकाशिका आदि ग्रन्थ इसमें सम्मिलित नहीं है। वृहद् ग्रन्थों में से एतद्विषयक ग्रन्थांशों का सम्पादन हो रहा है, वे पाठकों के समक्ष बाद में प्रस्तुत हो सकेंगे।

आशा है विद्वान् पाठक इस प्रसंग में अपने सुझावों से हमें कृतार्थ करेंगे। इस सम्पादन कार्य में मेरी पुत्री कुमारी इन्दु अवस्थी एम० ए० ने हमारे सहायक के रूप में कार्य करने का संकल्प लेकर सम्पूर्ण कार्य को स्वयं इस प्रकार सम्भाल लिया है कि मुझे लगने लगा है कि सम्भवतः इनके विना यह कार्य पूर्ण ही न हो पाता। इस अपूर्व सहयोग को मैं ईश्वर की कृपा मान कर स्वीकार कर रहा हूँ।

—ब्रह्ममित्र अवस्थी

—माघ पूर्णिमा सं० २०३३ वि०

विषय-सूची

प्रकाशकीय ३
निवेदन ४
विषय सूची ६
उद्धरण सूची ८

भूमिका पृ० १-३२

मीमांसा की परम्परा १
मुकुलभट्ट एक परिचय ४
अभिधा व्यापार ६
आकृतिवाद ७
व्यक्तिवाद ७
जाति-आकृति व्यक्तिवाद ८
अपोहवाद ८
क्रियापदार्थवाद १०
जात्यादिचतुष्टयवाद १०
लक्षणा १२
लक्षणाबीज १३
सम्बन्ध १६
लक्षणा के भेद १७
व्यञ्जना २०
क्रोचे की सहजानुभूति २२
रामचन्द्रशुक्ल की वस्तुव्यञ्जना एवं भावव्यञ्जना २२
शब्दव्यापारविषयक कुछ स्फुट उक्तियां २४
अभिधावृत्तमातृका में कुछ विशिष्ट संकेत ३६

मूल ग्रन्थ १-९५

अभिधावृत्तमातृका कारिका १
अभिधान व्यापार और उसके भेद २

मुख्यार्थ	....	४
मुख्यार्थभेद	....	६
लक्षणा-भेद	....	१२
शुद्धा-उपादानलक्षणा शुद्धा लक्षणलक्षणा	....	१४
उपचार मिश्रा लक्षणा के भेद	....	१६
लक्षणा-विषय-विभाग	....	२२
लक्षणा में अपेक्षणीय	....	२७
अभिहितान्वयवाद में लक्षणा	....	४१
अन्विताभिधानवाद में लक्षणा	....	४१
समुच्चयवाद में लक्षणा	....	४१
अखण्डवाक्यार्थवाद : लक्षणा	....	४१
सम्वन्धमूलक लक्षणा भेद	....	४५
सम्वन्ध-लक्षणा	....	४६
सादृश्य-लक्षणा	....	४७
समवाय-लक्षणा	....	४८
वैपरीत्य-लक्षणा	....	४८
क्रियायोग-लक्षणा	....	४९
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलक्षणा अविवक्षितवाच्यलक्षणा	....	५०
अभिधावृत्त की दशविधता	....	५६
परिशिष्ट	....	६१

उद्धरण-सूची

उद्धरण	पृष्ठ
१. अजाद्यतष्टाप् (टीका)	३७
२. अतिव्याप्तिः लक्ष्यता० (टिप्पणी)	४७
३. अत्रहि स्वार्थ सहचारिणो० (टी०)	१८
४. अनयोर्हि लक्ष्यस्य० (टी०)	२४
५. अनादि निधनं ब्रह्म० (टी०)	५०
६. अनाहार्यविष्णुतादात्म्य० (टी०)	३६
७. अन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तम्० (टि०)	५०
८. अन्यद्धि शब्दानाम्० (टि०)	५०
९. अभिधेयाविनाभूत० (टी०)	१८
१०. अभिधेयेन सम्बन्धात्०	४५
११. अभेदपूर्वकाः भेदाः० (टि०)	४२
१२. अभेदप्रधाने आरोपे० (टी०)	१९
१३. अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्० (टि०)	५२
१४. इत्येवंविधे विषये० (टी०)	३६
१५. इयमतिशयोक्तिः० (टी०)	२१
१६. उपकृतं बहु तत्र० (टी०)	४९
१७. उपाधिश्च द्विविधः० (टि०)	७
१८. उपायाः शिक्षमाणानाम्० (टि०)	४२
१९. ऋदोरप् (टी०)	३०
२०. एकमेव० (टी०)	५७
२१. काव्यस्यात्मा ध्वनिः० (टि०)	५६
२२. क्रुधोहेतुताच्छील्या० (टी०)	३७
२३. चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः (टि०)	७
२४. टिड्ढाणञ्० (टी०)	३७
२५. तदप्यन्ये न मन्यन्ते० (टी०)	१८
२६. तेन तत्कार्यत्वात्कारण० (टी०)	३६
२७. नन्दिग्रहिपचादिभ्यो० (टी०)	३७
२८. दुर्वारापाः मदनेषवः० (मू०)	३६
२९. दृष्टि हे प्रतिवेशिनि० (मू०)	३२
३०. पृथुरसि गुणैः० (मू०)	४९
३१. प्राप्तश्रीरेष कस्मात्० (मू०)	३३
३२. ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति (टि०)	४२
३३. भ्रमर भ्रमता दिगन्तराणि० (मू०)	४७
३४. मध्ये समुद्रं ककुभः० (मू०)	३०
३५. मुख्यार्थस्येतराक्षेपो० (मू०)	२२
३६. यथा पदे विभज्यन्ते० (टि०)	४२
३७. रूपहानिः सामान्य० (टि०)	९
३८. वस्तुधर्मो द्विविधः० (टि०)	८
३९. व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वम्० (टि०)	९
४०. सादृश्ये निमित्ते० (टी०)	१९
४१. साम्यरूपविवक्षायाम्० (मू०)	३४
४२. स्निग्धश्यामल० (मू०)	२९
४३. स्वसिद्धये पराक्षेपः० (टी०)	२१

भूमिका

भाषा का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ इसके सम्बन्ध में भाषा वैज्ञानिकों में अनेक परिकल्पनाओं के होते हुए भी जैसे आज तक कोई ऐतिहासिक निर्णय न किया जा सका है, उसी प्रकार भाषा के माध्यम से अर्थ का बोध क्यों और कैसे होता है ? भाषा की इकाई शब्द (पद) है, या वाक्य ? अथवा प्रकृति-प्रत्ययरूप पदांश ? इत्यादि प्रश्नों का उदय और इनके समाधान की खोज का प्रारम्भ कब और कहाँ हुआ, सर्व प्रथम किस की प्रज्ञा इस अनुसन्धान में प्रवृत्त हुई ? इस सम्बन्ध में कुछ भी कह सकना अब तक सम्भव न हो सका है। किन्तु इसके समाधान की खोज में निश्चय ही दो दिशाओं में प्रयास प्रारम्भ हुए थे। उन्हें हम पदशास्त्र अर्थात् व्याकरण एवं वाक्यशास्त्र अर्थात् मीमांसा के रूप में आज भी प्राप्त करते हैं। इन दोनों ही शास्त्रों का पूर्ण व्यवस्थित रूप आज से कम से कम पचीस सौ वर्ष पूर्व अवश्य प्रस्तुत हो चुका था। क्योंकि पदशास्त्र के आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी, जिसे आज के भाषावैज्ञानिक प्रज्ञा का चरम उत्कर्ष मानते हैं, तथा महर्षि जैमिनि का मीमांसा-शास्त्र, जिसे शब्दवृत्ति-विचार परम्परा का जनक कहा जा सकता है, की रचना ईसा से कम से कम पाँच सौ वर्ष पूर्व हुई, इसे निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है। इन पर विशाल भाष्यों की रचना भी ईसा से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व पुष्यमित्र के राज्य काल के लगभग हो चुकी थी, इसे ऐतिह्यविदों ने प्रमाणित कर दिया है।[1] जो आज क्रमशः पातञ्जलमहाभाष्य एवं शाबरभाष्य के रूप में भारतीय वाङ्मय के अध्येताओं में सुविदित हैं।

भारतीय परम्परा में विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों का पठन पाठन धर्म के रूप में स्वीकृत रहा है, अतः इस विषय में विवेचन का क्षेत्र मुख्यतः मीमांसा दर्शन में वैदिक भाषा रही है, अतः यह स्वाभाविक ही था कि उसमें वेदों की अपौरुषेयता, शब्दों की नित्यता एवं शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता का सम्यक् विचार किया जाए। इस प्रसंग में क्योंकि शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता भी सिद्धान्ततः स्वीकृत हुई है, अतः यह भी अत्यन्त स्वाभाविक है कि शब्दों के साथ अर्थों की नित्यता को भी स्वीकार किया जाए। किन्तु क्योंकि अर्थों का विनाश अथवा तिरोधान हम नित्य ही लोक

---

१. पतञ्जलि के समय के निर्णय हेतु देखें :—

(क) पातञ्जलयोगशास्त्र एक अध्ययन पृ० १०-१४।

(ख) Colected work of Dr. Bhandarkar. Part. I, P. 108-114.

जीवन में देखते हैं, अतः यह भी अनिवार्य हो गया कि अर्थ को न केवल वाह्यार्थ के रूप में स्वीकार किया जाय अपितु उसे उससे भिन्न रूप में भी देखा जाए और तभी अर्थ को शब्दात्मक भी स्वीकार किया गया। इतना ही नहीं उसे ब्रह्म का स्वरूप भी एक समय में प्राप्त हो गया।

वाक्यार्थ विज्ञान का विवेचन करने वाले शास्त्र मीमांसादर्शन की परम्परा न केवल अत्यन्त प्राचीन है, अपितु विचार की परम्परारूपी यह ब्रह्मपुत्र उच्चावच मनीषीरूप पर्वत श्रेणी के मध्य निरन्तर प्रवहमान होता हुआ अपनी गति से सभी दिशाओं को आप्लावित करता हुआ आज भी चिन्तनरूपी वारिधारा द्वारा विविध दर्शन क्षेत्रों में पनपते हुए विचार रूपी वृक्षों को सिंचित करता हुआ अन्त में वाङ्मयरूपी महासागर को निरन्तर समृद्ध बना रहा है। अर्थमीमांसा की इस परम्परा में जैमिनि के मीमांसासूत्र पर शबर मुनि विरचित भाष्य एवं उसके पूर्व उपवर्ष (२०० B. C,) कृत वृत्ति तथा उसके अनन्तर भर्तृमित्र (३००-६०० A. D.), कुमारिलभट्ट (६३०-७००) कृत श्लोकवार्त्तिक, तन्त्रवार्त्तिक एवं टुप्टीका, प्रभाकर मिश्र (६५०-७२० A. D.) कृत शावरभाष्य पर लघ्वी या विवरण टीका एवं बृहती या निवन्धन टीका, मण्डन मिश्र (६८०-७५० A. D. कृत विधिविवेक, भावनाविवेक, मीमांसा-सूत्रानुक्रमणी, स्फोटसिद्धि; भवभूति अपरनामा उम्वेक (६७०-७५० A. D.) कृत श्लोकवार्त्तिक एवं भावनाविवेक पर टीकाएँ तथा निवन्धन (अव तक अप्राप्त) ग्रंथ; प्रभाकरमिश्र के शिष्य शालिकण्ठ (६८०-७६० A. D.) कृत लघ्वी (भाष्यविवरण) पर दीपशिखाटीका एवं बृहती पर ऋजुविमला तथा प्रकरणपञ्जिका, महोदधि (७००-७७० A. D.) एवं महाव्रत (७००-७७० A. D.) (जिनका उल्लेख भवनाथ-भट्ट कृत न्यायविवेक में मिलता है, किन्तु उनके ग्रन्थों की कोई जानकारी अब तक न मिल सकी है); वाचस्पति मिश्र (८००-६०० A. D.) कृत विधिविवेक पर न्याय कणिका एवं तत्त्व विन्दु, सुचित्रमिश्र (१०००-११०० A. D.) कृत श्लोकवार्त्तिकटीका काशिका; पार्थसारथि मिश्र (१०५०-११२० A. D.) कृत न्यायरत्नाकर तन्त्ररत्न, शास्त्रदीपिका, एवं न्यायरत्नमाला; आचार्य श्रीकर एवं प्रकाश (११००A.D. भवनाथ-भट्ट कृत न्यायविवेक में उद्धृत) भवनाथ भट्ट (१०५०-११५०) कृत न्यायविवेक; भवदेवभट्ट (११०० A. D.) कृत अजिता अथवा तन्त्रटीकानिवन्धन तथा भट्ट-सोमेश्वर (१२०० A. D.) कृत न्यायसुधा या राणक, मुरारिमिश्र (११५०-१२२० A. D.) कृत त्रिपादीनीतिनयन; नन्दीश्वर (१२२०-१३०० A. D.) कृत प्रभाकर विजय; चिदानन्द पंडित (१२००-१३००) कृत नीतितत्त्वसंग्रह; अनन्तनारायण (१४०० A. D.) कृत विजयाटीका एवं निवन्धन, परमेश्वर (१४०० A. D.) नामक

तीन आचार्यों द्वारा रचित जुपध्वंकरणी एवं स्वदितंकरणी, तत्त्वविन्दु पर टीका तत्त्व-विभावना, स्फोटसिद्धि-टीका, विभ्रमविवेक-टीका एवं नीतितत्त्वाविर्भाव-टीका तथा मीमांसासूत्रार्थसंग्रह एवं काशिका-टीका; वरदराज (१५००-१५७०A. D.) कृत न्याय-विवेक-टीका दीपिका; अप्पय दीक्षित (१५२०-१५८३ A. D.) कृत कारिका एवं वृत्तिमय विधिरसायन, उपक्रमपराक्रम, वादनक्षत्रमाला, मयूखावलि एवं चित्रपट इत्यादि; विजयीन्द्रतीर्थ (विजयीन्द्र भिक्षु) (१५३८-१५८७ A. D.) कृत न्यायाध्व-दीपिका, मीमांसा-न्यायकौमुदी एवं उपसंहारविजय; वेङ्कटेश्वर दीक्षित (१६००. A. D.) कृत सुलभमीमांसा, कर्मान्तवार्त्तिकाभरण (टुप्टोका-टीका); नारायणभट्ट (१५६०-१५५६ A. D.) या मेप्पतूर नारायणभट्टतिरिक्त मानमेयोदय; लौगाक्षि-भास्कर (१६०० A. D.) कृत अर्थसंग्रह; शंकरभट्ट (१५५०-१६२०) कृत शास्त्र-दीपिकाप्रकाश, मीमांसाबालप्रकाश, मीमांसासारसंग्रह, विधिरसायनदूषणम्; आपदेव (१५८०-१६५० ई०) कृत मीमांसान्यायप्रकाश; खण्डदेवमिश्र (१५७५-१६६५ ई०) कृत भाट्टकौस्तुभ, भाट्टदीपिका, भाट्टरहस्यम्; राजचूडामणिदीक्षित कृत तन्त्रशिखा-मणि, संकर्षमुक्तावलि, एवं कर्पूरवार्तिक; वेंकटाध्वरिन् (१५८०-१६६०) कृत विधि-त्रयपरित्राण एवं मीमांसामकरन्द; राघवेन्द्र यति (१६००-१६७० A. D.) कृत भाट्ट संग्रह; रामकृष्णदीक्षित (१६००-१६७०) कृत मीमांसान्यायदर्पण; सोमनाथ दीक्षित (१६०० A. D.) कृत शास्त्रदीपिका-टीका मयूखमालिका; यज्ञनारायण दीक्षित (१६०० A. D.) कृत शास्त्रदीपिका-टीका प्रभामण्डल; कमलाकरभट्ट (१५८०-१६६० ई०) कृत तन्त्रवार्त्तिक-टीका, एवं शास्त्रदीपिका-टीका आलोक, तथा निर्णय सिन्धु; दिनकर भट्ट (१५८०-१६६० A. D.) कृत मीमांसासूत्रवृत्ति; अनन्यदेव एवं जीवदेव (१६००-१६७० A. D.) कृत भाट्टालंकार; कवीन्द्राचार्य १६००-१६७०) कृत तन्त्रवार्त्तिक-टीका; अनन्तभट्ट कृत (१६३०-१७३०) शास्त्रमाला वृत्ति; गागाभट्ट (१६३०-१७०० ई०) या विश्वेश्वरभट्ट कृत भाट्टचिन्तामणि; कोलूरनारायणशास्त्री (१६३०-१७००) कृत मीमांसासर्वस्व एवं विधिविवेक; शम्भुभट्ट (१६४०-१७००) कृत भाट्टदीपिका-टीका प्रभावलि; अप्पय दीक्षित द्वितीय (१६५०ई०) कृत तन्त्रसिद्धान्तदीपिका (मीमांसासूत्र पर वृत्ति) अन्नंभट्ट (१७०० A. D.) कृत तन्त्रवार्त्तिक टीका-सुबोधिनी, राणकोज्जीवनी, एवं राणक भावना कारिका विवरण; रामकृष्ण भट्ट (१७०० A. D.) कृत शास्त्र दीपिका-टीका (तर्क पादमात्र); भास्करराय (१७००-१७६० ई०) कृत भाट्ट-दीपिका चन्द्रोदय, एवं संकर्षकाण्डसूत्र चन्द्रिका; कृष्णयज्वन् (१७००-१७६० ई०) कृत परिभाषा; वासुदेव दीक्षित (१७००-१७६०ई०) कृत अध्वर मीमांसा कुतूहल वृत्ति; रामा-नुजाचार्य (१७५० A. D.) कृत तन्त्ररहस्यम्, एवं पार्थसारथिमिश्र कृत न्यायरत्न-माला की टीका, एवं वाञ्छेश्वर यज्वन् (१७६०-१८३०) कृत भाट्ट चिन्तामणि इत्यादि

ग्रन्थों की एक वृहत्परम्परा है। इस सुदीर्घ परम्परा में वैदिक विधियों के प्रसङ्ग में वाक्य एवं उसके अर्थ पर प्रासङ्गिक रूप से विधिवत् विचार हुआ है।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, मीमांसा शास्त्र में वाक्य एवं वाक्यार्थ के सम्बन्ध आदि के सम्बन्ध में विचार वैदिकविधियों के अर्थनिर्णय के प्रसङ्ग में हुआ है। जिन दिनों मीमांसाशास्त्र पर इस क्षेत्र में कार्य चल रहा था उन्हीं दिनों दूसरी ओर संस्कृत काव्यों एवं काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों की भी स्वतन्त्र रूप से रचना हो रही थी, जिनमें काव्यार्थ प्रतीति की दृष्टि से शब्द के अर्थप्रत्यायक व्यापार पर विचार करने की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। नवम शताब्दी के आचार्य आनन्द वर्धन शब्द के अभिधा एवं लक्षणा व्यापार (गुणवृत्ति) के अतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार का विश्लेषण करते हुए ग्रन्थारम्भ में जिन पक्ष प्रतिपक्षों की चर्चा करते हैं, उससे यह निश्चित रूप से सूचना मिलती है कि लौकिक वाक्यों अथवा काव्यों में शब्दार्थ प्रतीति को लेकर पर्याप्त चर्चा प्रारम्भ हो चुकी थी। इसी शताब्दी में आचार्य वाचस्पति मिश्र ने तत्त्व विन्दु नामक एतद्विषयक प्रथम ग्रन्थ की रचना की थी तथा आनन्द वर्धन के वाद आचार्य मुकुल भट्ट (८८३-९२५ A. D.) का आविर्भाव होता है, जिन्होंने शब्दवृत्तिविषयक एक पूर्ण एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है, जो अभिधावृत्तमातृका नाम से काव्यशास्त्र के विद्वानों के मध्य सुचर्चित है। मुकुल का यह ग्रन्थरत्न आचार्य मम्मम्ट आदि प्रसिद्ध विद्वानों के लिए भी शब्द व्यापार की चर्चा के प्रसंग में आदर्श के रूप में रहा है। मुकुलभट्ट के अनुकरण पर ही परवर्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यों में मम्मट ने शब्दव्यापारविचार, अप्पयदीक्षित ने वृत्तिवार्त्तिक आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका तथा मौनि श्रीकृष्णभट्ट ने वृत्तिदीपिका इत्यादि स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है। इनके अति साहित्यशास्त्र व्याकरण मीमांसा एवं न्यायशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने प्रासङ्गिक रूप से इस विषय का विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है।

मुकुल भट्ट (८८३-९२५ A. D.)

मुकुल भट्ट के समय का निर्धारण कुछ अधिक कठिन नहीं है। मुकुल ने स्वयं ग्रंथ के अन्त में—

'भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता।
सूरि प्रवोघनायेयमभिधावृत्तका ॥ १५ ॥'

पद्य द्वारा स्वयं को कल्लटभट्ट का पुत्र कहा है। काश्मीरी साहित्य में कल्लट नाम सुविदित है। राजतरङ्गिणीकार कल्हण ने स्पष्ट रूप से भट्टकल्लट को अवन्तिवर्मा का आश्रित वताया है—

"अनुग्रहाय लोकानां भट्टश्रीकल्लटादयः
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धाः भुवमवातरन्" ॥ (५.६६)

इस पद्य से यह भी सिद्ध होता है कि वे अपने समय में अत्यन्त प्रतिष्ठित रहे हैं। काश्मीरी शैवदर्शन के आचार्य भास्कर ने तत्त्वार्थचिन्तामणिव्याख्या में सम्बद्ध विषय के इतिहास को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'स्वप्न में निर्देश पाकर वसुगुप्त ने महादेव पर्वत पर शिव सूत्रों को प्राप्त किया। उसके अनन्तर उन्होंने रहस्य-ज्ञान पूर्वक उन सूत्रों को भट्ट कल्लट को प्रदान किया। कल्लट ने उन शिव सूत्रों पर चार खण्डों में शिवसूत्रवार्त्तिक, जिन्हें स्पन्दसूत्र या स्पन्दकारिका भी कहा जाता है, लिखे, उन पर भास्कर ने तत्त्वार्थचिन्तामणि नामक व्याख्या लिखी है—

'श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा।
सिद्धादेशात् प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि॥
स रहस्यान्यतः सोऽपि प्रादाद्भट्टाय सूरये।
श्री कल्लटाय सोऽप्येवं चतुःखण्डानि तान्यथ॥
व्याकरोत्, त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः।
तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्तिमम्॥

कल्लट ने स्पन्दकारिका के अन्त में स्वयं भी इस तथ्य को स्वीकार कया है—

"दृब्धं महादेवगिरौ महेशस्वप्नोपदिष्टाच्छिवसूत्रसिन्धोः।
स्पन्दामृतं यद् वसुगुप्तपादैः श्रीकल्लटस्तत्प्रकटीचकार॥"

अर्थात् 'महादेवगिरि पर स्वप्न में उपदिष्ट शिवसूत्ररूपी सिन्धु का मन्थन करके वसुगुप्तपाद ने जो स्पन्दरूपी अमृत प्राप्त किया था, श्रीकल्लट ने उसे ही प्रकट किया है।'

उपर्युक्त विवरणों से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि अपने समय में श्रीकल्लटभट्ट का काश्मीरी विद्वानों में अत्यधिक समादर रहा है; और उनकी यह प्रतिष्ठा उनके अनन्तर भी निरन्तर अक्षुण्ण रही है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि कल्हण जैसे इतिहासकार ने उनके प्रादुर्भाव को अवतार के रूप में प्रतिपादित करें।

कल्लट की इस प्रतिष्ठा की पुष्टि काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के टीकाकार इन्दुराज के वचनों से होती है। इन्दुराज के अनुसार वे (इन्दुराज) उन कल्लटभट्ट के शिष्य रहे हैं, जिन्हें मीमांसाशास्त्ररूपी वर्षाकाल के लिए जलदरूप, व्याकरणरूपी समुद्र के लिए चन्द्ररूप, तर्करूपी माणिक्य के लिए कोशरूप, साहित्यरूपी लक्ष्मी के लिए

श्रीकृष्णरूप, विद्वान्‌रूपी पुष्पों को विकसित करने के लिए वसन्तरूप, विष्णु के चरणों के भृङ्ग सौजन्य के समुद्र तथा कीर्त्तिरूपी लता के आलवाल थे :—

'मीमांसासारमेघात्पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोशात्,
साहित्यश्रीमुरारेर्बुधकुसुममधोः सौरिपादाब्जभृङ्गात्।
श्रुत्वा सौजन्यसिन्धोर्द्विजवरमुकुलात्कीर्त्तिवल्ल्यालवालात्,
काव्यालंकारसारे लघुविवृतिमधात्कौङ्कणः श्रीन्दुराजः ॥

ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त इन्हीं इन्दुराज के शिष्य थे, ऐसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है :—

(क) भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासो
हृद्यः श्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्।
यत्किंचिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्या—
लोकंसुलोचन नियोजनया जनस्य ॥ ध्वन्यालोकलोचन पृ० १

(ख) यथास्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य' इत्यादि

इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि मुकुलभट्ट अवन्तिवर्मा के आश्रित आचार्य आनन्द वर्धन के अनन्तर तथा लोचनकार अभिनवगुप्त से पूर्व हुए हैं। अभिनवगुप्त का समय क्योंकि दशम शताब्दी का अन्तिम चरण एवं एकादश शताब्दी का आरम्भ स्वीकार किया जाता है एवं इसी आधार पर उनके गुरु इन्दुराज का समय दशम शताब्दी का उत्तरार्ध अर्थात् ६४०–६६० ई० प्रायः निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। फलतः इन्दुराज के गुरु मुकुलभट्ट का समय ८८३ ई० से ६५५ ई० स्वीकार किया जा सकता है।

अभिधा

शब्द शक्ति या व्यापार के सम्बन्ध में विचार करने वाले आचार्यों में परस्पर पर्याप्त मतभेद रहा है, कोई केवल अभिधा व्यापार मानना चाहता है; तो कोई अभिधा और लक्षणा को; तो कोई अभिधा; लक्षणा और व्यंजना को। कुछ आचार्य तात्पर्य नाम से अभिधा के सहायक तात्पर्यव्यापार को भी स्वीकार करते हैं। इनमें भी अभिधा शक्ति द्वारा शब्द का वाच्य क्या माना जाए, इस पर भी पर्याप्त मतभेद है, कुछ जाति में शक्ति स्वीकार करते हैं, तो कुछ व्यक्ति में, काव्यशास्त्र के आचार्यों ने शब्द का संकेत जाति, गुण, व्यक्ति और यदृच्छा चारों ही अर्थों में स्वीकार किया है। यहाँ 'संकेत' पद का तात्पर्य है—पद को परम्परागत अर्थबोध की प्रक्रिया के अनुसार जाति आदि से सम्बन्ध, जिसे बोधकशक्ति का ज्ञान भी कहा जा सकता है। उच्चारण किये हुए शब्द से प्रगट होने वाले अर्थ का क्या स्वरूप है, इस विषय में दार्शनिकों के

परस्पर अत्यन्त भिन्न यह छः मत हैं :—१. आकृतिवाद २. व्यक्तिवाद ३. जाति-विशिष्ट व्यक्तिवाद ४. अपोहवाद ५. केवल जातिवाद एवं ६. जात्यादिवाद ।

(१) जैन दर्शन में आकृतिवाद स्वीकार किया जाता है । इनकी मान्यता है कि क्योंकि शब्दार्थ का निश्चय प्रयोग और प्रतिपत्ति (बोध) के द्वारा होता है, अर्थात् वृद्धजन व्यवहार करते हुए जिस अर्थ में 'गो' शब्द का प्रयोग करते हैं तथा श्रोता उससे जिस अर्थ को समझते हैं, वही उस पद का अर्थ होना चाहिये । गो पद केसर आदि (अयाल—सिंह की गर्दन के बाल आदि) से युक्त के लिए नहीं प्रयुक्त होता, किन्तु सारना आदि से युक्त के लिए प्रयुक्त होता है । इस प्रकार उससे एक विशेष प्रकार की आकृति का बोध होता है । जिस समय प्रत्यक्ष होते हुए प्राणी विशेष के लिए गो शब्द का प्रयोग होता है, उस समय प्रत्यक्ष होने वाली आकृति विशेष का ही बोध उस पद से होता है तथा उस आकृति से विशिष्ट व्यक्ति के साथ आनयन (लाना) आदि क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं, अतः आकृति को ही पदार्थ मानना चाहिए ।

(२) आकृतिवादियों के उपर्युक्त तर्क को व्यक्तिवादी (नैयायिकों की एक शाखा विशेष के लोग) स्वीकार नहीं करते । उनका कहना है कि (गाम् आनय) अर्थात् 'गौ लाओ' इत्यादि वाक्य सुनकर आदेश पालन करने वाला चित्रगत गौ की आकृति को अथवा गौ की आकृति से विशिष्ट मिट्टी अथवा पत्थर की प्रतिमा को नहीं लाता । अतः आकृति को पदार्थ नहीं मानना चाहिए । "न च गामानयेत्युक्तः सत्यामपि तथाकृतौ, चित्रमृत्स्नामयीं कश्चिद् गामानयति बुद्धिमान् ॥". (न्यायमंजरी, पृ० २८१) इसके अतिरिक्त गो आदि के पदों को आकृतिवाचक मानने पर उसके विशेषण भूत शुक्ल आदि पदों में सामानाधिकरण्य की संगति न बन सकेगी । साथ ही 'गौरनुबन्ध्यः' आदि वाक्यों में प्रयुक्त गो पद से वाच्य आकृति यज्ञ का साधन नहीं बन सकती, यह योग्यता व्यक्ति में ही है, अतः 'व्यक्ति ही पदार्थ है' ऐसा मानना चाहिए । 'प्रयोगचोदनासामंजस्याद् व्यक्तिः शब्दार्थः, आलम्भन-विशसनप्रोक्षणादि-चोदनाः जातावसंगताः भवन्ति····अपि तु व्यक्तिः, तस्मात्सैव पदार्थः' ॥ वही पृ० २८१)

व्यक्तेरेव पदार्थत्वं तस्मादभ्युपगम्यताम् ।
तथा च बुद्धिस्तत्रैव श्रुतशब्दस्य जायते ॥ (वही पृष्ठ २८२)

इस सम्बन्ध में व्यक्तिवादी नैयायिकों का एक तर्क यह भी है कि प्रत्येक पद में निहित प्रातिपदिक से विहित सु-आदि विभक्तियाँ पदार्थगत कारक सम्बन्ध या पुरुष एवं वचन का निर्देश करती है, जिनकी संभावना व्यक्ति में ही है जाति आदि में नहीं, अतः पदार्थ व्यक्ति ही होना चाहिए ।

(३) न्यायसूत्रकार गौतम तथा उनके अनुयायी प्राचीन नैयायिक जाति

आकृति और व्यक्ति तीनों को ही (यथावसर अन्यतम को) पदार्थ स्वीकार करते हैं। 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः' (न्याय सूत्र २.१-६३)। उनका कहना है कि 'गौः पदा न 'स्प्रष्टव्या' अर्थात् गौ को पैर से नहीं छूना चाहिए; इत्यादि धर्मशास्त्रीय वचनों में गौ पद गो सामान्य का वाचक है, अतः यहां जाति पदार्थ है। 'गौरनुबन्ध्यः' आदि धर्म-शास्त्रीय वाक्यों में तथा गाम् आनय, गां बधान (गौ को लाओ, गौ को बांधो) इत्यादि लौकिक वाक्यों में गौ आदि पदों का अर्थ व्यक्तिरूप है। किन्तु 'पिष्टकमय्यो गावः क्रियन्ताम्' अर्थात् आंटे की गौवें बनाओ आदि वाक्यों में में गो आदि पदों का अर्थ आकृतिरूप है। उपर्युक्त स्थलों में क्रमशः जाति व्यक्ति एवं आकृति रूप अर्थ का प्राधान्य रहता है, एवं अन्य अर्थ की गौणता। फलतः प्रत्येक पद के अभिधेय जाति आकृति और व्यक्ति तीनों ही रहा करते हैं। किन्तु जिन अर्थों में जाति और आकृति की संभावना नहीं रहती वहाँ केवल व्यक्ति, अर्थात् वहाँ जाति और आकृति रहित व्यक्ति ही अभिधेय हो सकता है। 'येषामर्थेषु सामान्यं न सम्भवति तैः पुनः, उच्यते केवला व्यक्तिराकाशादिपदैरिव। एवं डित्थादिशब्दानां संज्ञात्वविदितात्मनाम्। अभिधेयस्य सामान्यशून्यत्वाद् व्यक्तिवाचिता।' (न्याय मंजरी० पृ० २९८)

(४) बौद्ध दर्शन की परम्परा में शब्द को अर्थ को जाति, व्यक्ति अथवा जाति विशिष्ट व्यक्ति न मानकर अपोह अर्थात् अतद्व्यावृत्ति रूप माना जाता है। उनके अनुसार क्योंकि विश्व के समस्त प्रतीयमान अथवा अप्रतीयमान पदार्थ प्रवाह रूप होने से अनित्य हैं, अतः अनित्य शब्द और अर्थ के बीच भावरूप संकेत की कल्पना नहीं की जा सकती। फलतः उसे अभावरूप (अपोहरूप) ही होना चाहिए। इसी को पारिभाषिक शब्दावली में 'अपोह' कहा जाता है। इसे ही दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि परस्पर अत्यन्त भिन्न गौ, भैंस, घोड़ा आदि इतर पदार्थों से भिन्न होते हैं, इसे ही अतत्व्यावृत्ति अथवा अपोह कहा जाता है और यही पदार्थ है (अत्यन्त विलक्षणानां स्वालक्षण्यम् अन्यव्यावृत्तिः स्वालक्षण्यम्) [न्या० वा० ता० टी० पृ० ४८६] पदार्थ अपोह रूप इसलिये भी है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के स्वीकरण और निषेध में वस्तु का यह स्वभाव अनिवार्यतः निहित होता है कि वह सम्बद्ध के प्रतियोगी से भिन्न हो। प्रत्येक पद के द्वारा होने वाली अर्थ की प्रतीति में भी अर्थ के स्वरूप में स्वीकारात्मक और प्रतिषेधात्मक तत्त्वों का समावेश भी अनिवार्यरूप से विद्यमान रहता है। एवं प्रधानता अतद्व्यावृत्तिरूप अर्थ की ही हुआ करती है 'यद् भावाभावसामान्यं तदतद्व्यावृत्तिरूपमेव।' (न्या० वा० ता० टी० ४८६) अपोहरूप शब्दार्थ मानने का एक कारण यह भी है कि वस्तु का निज स्वभाव अन्य वस्तुओं से भिन्न रूप में ही ज्ञात होता है। उस वस्तु के सम्बन्ध में

विविध विकल्पों का उदय होता है तथा विकल्पों का आश्रय भूत अर्थ ही वाणी का विषय बनता है। अतः उसे अपोह (अन्य से भिन्न) रूप ही स्वीकार किया जाना चाहिए। 'या च भूमिर्विकल्पानां स एव विषयो गिराम्। अतएव हि शब्दार्थमन्यापोहं प्रचक्षते।' (न्याय मंजरी पृ० २७६)।

मीमांसकों के अनुसार जाति और आकृति भिन्न पदार्थ नहीं हैं, क्योंकि दोनों का कार्य अनेक व्यक्तिरूप पदार्थों में अनुगत प्रतीति को जन्म देना होता है :— 'जातिमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिराक्रियते यया, सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम्।' (श्लोक वार्तिक आकृतिवाद—३ पृ० ५४६ (चौखम्बा १९५५ वि०) तथा जाति एवं आकृति के बिना अथवा जाति और आकृति से रहित व्यक्ति का बोध होना संभव नहीं है; अतः जाति में ही शक्ति मानना उचित है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति में संकेत मानने पर अनन्त व्यक्तियों में अनन्त संकेतों की कल्पना करनी होगी। एवं जिस पदार्थ व्यक्ति का प्रथम दर्शन होते समय भी शाब्दबोध हो रहा हो वहाँ उस काल से पूर्व संकेत ग्रहण की संभावना न होने से व्यभिचार दोष भी उपस्थित होगा। अतः जाति में ही शक्ति माननी चाहिए व्यक्ति में नहीं। 'गवादिचोदना नो या जाति व्यक्त्योरनिर्णयात्, आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां न व्यक्तिरिति निर्णयः' (जै० न्या० मा० १.३. ३५) इस सम्बन्ध में कैय्यट का कहना है कि क्योंकि अनन्त व्यक्तियों 'द्रव्यों' में संकेत ग्रहण संभव नहीं है। अतः शब्द का अर्थ जातिरूप है, यह मानना ही होगा वह जाति समस्त व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान रहती है, तथा आकृति को देखकर व्यक्ति में उसके (जाति के) होने का बोध होता है। इस प्रकार गो आदि शब्द विविध गो व्यक्तियों में 'द्रव्यों' में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान 'गोत्व आदि जाति का ही अभिधान करते हैं।' उस जाति रूप अर्थ की प्रतीति होने पर अविनाभाव सम्बन्ध से उससे युक्त द्रव्य की प्रतीति होती है। गुणवाचक के रूप में स्वीकृत पदों से भी गुणगत जाति का ही अभिधान होता है एवं तदवच्छिन्न गुणों का बोध जाति सम्बन्ध के कारण ही होता है। संज्ञा शब्दों में भी उत्पत्ति से विनाश पर्यन्त किसी वस्तु विशेष की अवस्थाओं में अथवा जन्म से मृत्युपर्यन्त सभी प्राणियों की शैशव, कौमार्य, यौवन एवं वृद्धत्व आदि अवस्था भेदों में प्रतिक्षण भिन्न होते हुए व्यक्तियों में भी अभेद की प्रतीति के हेतुभूत डित्थत्व; देवदत्तत्व आदि जाति की ही प्रतीति होती है। क्रिया शब्दों मे भी यही स्थिति है। यहाँ 'क्रियागत जातियों का ही धातुओं द्वारा अभिधान हुआ करता है। 'जातिरेव शब्देन प्रतिपाद्यते व्यक्तिनामानन्त्यात्सम्बन्ध ग्रहणासंभवात्। सा च जातिः सर्वव्यक्तिष्वेकाकारप्रत्ययदर्शनादस्तीति व्यवसीयते। तत्र गवादयः शब्दाः भिन्नद्रव्यसमवेतां जातिमभिदधति। तस्यां प्रतीतायां तदावेशात्

तदवच्छिन्नं द्रव्यं प्रतीयते ।………संज्ञा शब्दानामप्युत्पत्तिप्रभृत्या-विनाशात्पिण्डस्य कौमारयौवनाद्यवस्थाभेदेपि स एवायमित्यभिन्नप्रत्ययनिमित्ता डित्थत्वादिका जाति, वाच्या । क्रियाशब्देष्वपि जातिर्विद्यते सैव धातुवाच्या ।" (महाभाष्य प्रदीप पृ० १७) (काणेकृत साहित्य दर्पण पर नोट पृ० ४२ से उद्धृत) केवल व्यक्तिवादियों द्वारा उठाये जाने वाले इस आक्षेप 'व्यवहार में ग्रहण और विसर्जन आदि प्रयोग व्यक्ति में ही सम्भव है जाति में नहीं' के उत्तर में जातिवादियों का कहना है कि व्यक्ति और जाति में अविनाभाव संबन्ध है, अतः जाति का बोध होने पर व्यक्ति का आक्षेप स्वतः हो जाया करता है, फलतः व्यवहार में व्यक्ति का प्रयोग होने में कोई असुविधा नहीं होगी ।

काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य महिमभट्ट अर्थप्रतीति के सम्बन्ध में एक अन्य सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं, जिसके अनुसार पदार्थ क्रियारूप होना चाहिए । इस मान्यता के अनुसार घट आदि जातिवाचक कहे जाने वाले पद भी घट आदि पदार्थों का बोध उसमें विद्यमान घटन आदि क्रिया की स्थिति के कारण ही कराते हैं, घटत्व सामान्य के कारण नहीं । 'केचित्पुनरेषां क्रियैव प्रवृत्तिनिमित्तमिति क्रियाशब्दत्वमेव सर्वेषां नामपदानामुपगच्छन्ति । तथाहि घटनादिक्रियामेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्ति-निमित्तभावेनावलम्बमाना दृश्यन्ते न च घटत्वादिसामान्यम् ।" (व्यक्तिविवेक पृ० ३६) इस परम्परा में शब्द की व्याकरण सम्मतव्युत्पत्ति को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु निश्चय ही उसे प्रधानता नहीं दी गई है । प्रधानता उनके अनुसार क्रिया को ही है, जिसके कारण अर्थ का स्वरूप अवस्थित है । 'यः कश्चिदर्थः शब्दानां व्युत्पत्तौ स्यान्निबन्धनम्, प्रवृत्तौ तु क्रियैवैका सत्तासादनलक्षणा ।" व्यक्ति विवेक संग्रह कारिकाः १. १.)

व्याकरण शास्त्र के आचार्य शब्द संकेत जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य (व्यक्ति) चारों में ही स्वीकार करते हैं—चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः— जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः । महाभाष्य ऋलृक् सूत्रभाष्य––(१. १. २. २.) पृ० १०१ (निर्णयसागर १९५१) महर्षि पतंजलि के उपर्युक्त वचनों में 'यदृच्छाशब्द' पद को स्पष्ट करते हुए कैय्यट का कहना है कि पदार्थगत प्रवृत्ति की अपेक्षा किए विना ही वक्ता अर्थ के लिये जिस शब्द का प्रयोग करता है, वह यदृच्छाशब्द है । (अर्थगतं प्रवृत्तिनिमित्तमनपेक्ष्य यः शब्दप्रयोक्तृभिः प्रायेणैव प्रवर्त्तते स यदृच्छाशब्दो डित्थादिः । (महाभाष्य प्रदीप १. १. २. २.) इसे ही और अधिक स्पष्ट करते हुए नागोजिभट्ट कहते हैं कि—एक व्यक्ति-पदार्थ में वक्ता द्वारा स्वेच्छापूर्वक जिस पद में

संकेत स्वीकार किया जा रहा है, वह यदृच्छा शब्द है—'स्वेच्छया एकस्या व्यक्तौ संकेत्यमानः शब्दो यदृच्छाशब्दः' (महाभाष्य)—प्रदीपोद्योत १.१.२.२.) वक्ता द्वारा व्यक्ति के लिए स्वेच्छा से प्रयुक्त उपर्युक्त यदृच्छा शब्दों के अतिरिक्त जातिवाचक पदों से भी जाति के साथ-साथ व्यक्ति का भी अभिधान होता है। ऐसा वार्तिककार कात्यायन एवं भाष्यकार पतंजलि दोनों स्वीकार करते हैं। इस प्रसङ्ग में एक उदाहरण उपस्थित करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिस समय किसी बहुत बड़े गौओं के समूह के बीच बैठे हुये गोपाल से वक्ता पूछता है कि 'क्या यहाँ' कोई गाय है ? तुम उसे देख रहे हो ?' तो उस समय गो पद द्वारा द्रव्यरूप अर्थ ही विवक्षित रहता है। किन्तु जिस समय धर्मशास्त्र कहता है कि 'ब्राह्मण की हत्या न करो' 'शराब न पिओ' उस समय ब्राह्मणमात्र और सुरामात्र विवक्षित है अर्थात् वहाँ जातिरूप अर्थ विवक्षित रहता है। क्योंकि यदि ऐसे स्थलों पर भी व्यक्ति (द्रव्य) रूप अर्थ ही विवक्षित हो तो एक ब्राह्मण की हत्या न करके; एक सुरा का पान न करके अन्यत्र स्वेच्छाचारिता विहित होने लगती। (वा० जाति शब्देन हि द्रव्याभिधानम्। (भाष्य) जातिशब्देन हि द्रव्यमप्यभिधीयते, जातिरपि। कथं पुनर्ज्ञायते जातिशब्देन हि द्रव्यमप्यभिधीयते इति ? कश्चिन्महति गोमण्डले गोपालकमासीनं पृच्छति अस्त्यत्रकाचिद् गां पश्यसीति।····नूनमत्र द्रव्यं विवक्षितम् (पृ० ६७)····वा० धर्मशास्त्रं च तथा। भाष्य–एवं च कृत्वा धर्मशास्त्रं प्रवत्तं 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः सुरा न पेयेति, एकं ब्राह्मणमहत्वा एकां सुरामपीत्वा अन्यत्र कामचारः स्यात्। महाभाष्य १. २. ३ पृ० ६७–८२) आचार्य व्याडि का मत शब्दशः इनके सर्वथा विपरीत होते हुये भी तात्पर्यशः सर्वथा अभिन्न है। इनके अनुसार शब्द जातिवाचक न होकर द्रव्यवाचक हुआ करते हैं, किन्तु उस स्थिति में अर्थात् द्रव्य के प्रधान रूप से पदार्थ रहने पर आकृति या जाति गौण रूप से पदार्थ रहती ही हैं। (वा० द्रव्याभिधानं व्याडिः चोदनासु च तस्यारम्भात्। (भाष्य) आकृतौ चोदितायां द्रव्ये आरम्भणालम्भनप्रोक्षणविशसनादीयि क्रियन्ते·······न ह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः, द्रव्यपदार्थकस्य वा आकृतिः न पदार्थः। उभयोरूभयं पदार्थः। कस्यचित् किंचित्प्रधानभूतं किंचिद् गुणभूतम्। आकृतिपदार्थकस्य आकृतिः प्रधानभूता, द्रव्यं गुणभूतम् द्रव्यपदार्थकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिः गुणभूता·······आकृतौ वालम्भनादीनां संभवो नास्तीति कृत्वाकृतिसहचरिते द्रव्ये आलम्भनादीनि भविष्यन्ति।' (वही १. २. २. ३. पृ० ८४-८५)। इस प्रकार व्याकरण शास्त्र के आचार्यों के अनुसार शब्द जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छाभेद से चार प्रकार के हैं; एवं उनका संकेत ग्रहण क्रमशः जाति (आकृति) गुण क्रिया एवं द्रव्यरूप अर्थों में हुआ करता है।

आचार्य मुकुलभट्ट तथा काव्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्य वैयाकरणों के उपर्युक्त सिद्धान्त को ही स्वीकार करते हैं, एवं अपनी मान्यता का कथन भी आदरपूर्वक

महाष्यकार के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए करते हैं—"चतुष्टयी हि शब्दानां प्रवृत्तिर्भगवताभाष्यकारेणोपवर्णिता, चतुष्टयी शब्दानां प्रवृतिरिति जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चेति।" (अ० वृ० मा० पृ० ४) काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य मम्मट भी अविकाल रूप से इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना है कि 'जातिः क्रिया गुणः····इति चत्वार्येव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि' (शब्दव्यापार विचार पृ० २)। आशाधरभट्ट के अनुसार गुण और जाति दोनों ही वस्तुगत स्थिर धर्म हैं। उन्हें अभिन्न मानकर केवल तीन ही शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त माने जा सकते हैं, गुण, क्रिया और संज्ञा। 'तत्र च प्रवृत्तिनिमित्तानिगवादिषुगुणः पाकादि षुक्रिया डित्थादिषु संज्ञा चेति' (त्रिवेणिका पृ० ४)। जाति आदि चार के अन्यतम में संकेत मानने पर संभावित गौरव आदि दोषों से बचने के लिए मुकुलभट्ट तथा काव्यशास्त्र के समस्त आचार्यों ने जाति आदि चारों पदों को उपाधि नाम देते हुए उपाधि में संकेत माना है। [सर्वेषां शब्दानां स्वार्थ····प्रवृत्तिः। अभिधावृत्तमातृका पृ० ६]।

लक्षणा

मुख्यव्यापार अभिधा से जिन अर्थों की प्रतीति नहीं हो पाती उनकी प्रतीति के लिए दार्शनिकों ने अभिधा के अतिरिक्त कुछ व्यापार अथवा शक्तियाँ स्वीकार की हैं। शब्दगत ये व्यापार या शक्तियाँ कितनी हैं, इस सन्दर्भ में वे एक मत नहीं है। अभिहितान्वयवादी मीमांसक अभिधा के अतिरिक्त तात्पर्य एवं लक्षणा शक्ति को स्वीकार करते हैं, जबकि अन्य मीमांसक, नैयायिक एवं वेदान्ती तात्पर्य को स्वीकार न कर अभिधा और लक्षणा को ही स्वीकार करते हैं। साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्य अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना को स्वीकार करना भी आवश्यक मानते हैं; किन्तु साहित्यशास्त्र के ही अन्यतम आचार्य महिमभट्ट शब्द में केवल अभिधा शक्ति ही मानते हैं। उनका कहना है कि मुख्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों की प्रतीति शब्द के माध्यम से न होकर अर्थ के द्वारा होती है, अतः उन अर्थों की प्रतीति कराने वाले व्यापार को शब्द का व्यापार न मानकर अर्थ का व्यापार मानना चाहिए। "शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता।" (व्य० वि० १.२७।) उनके अनुसार जो अर्थ शब्द के द्वारा साक्षात्प्रतीत न होकर अन्य व्यापार अर्थात् अर्थ के व्यापार से प्रगट होता है, वह गौण अर्थ कहलाता है।—'श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादात्म्यमवसीयते; तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम् (व्य० वि० पृ० ३९)।

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने मुख्यार्थ प्रतीति के अनन्तर लक्ष्यार्थ प्रतीति हेतु लक्षणावृत्ति के व्यापाररत होने के लिए तीन परिस्थितियों का अनिवार्य रूप से होना आवश्यक माना है (१) 'मुख्यार्थबाध' (२) मुख्य अर्थ एवं लक्षणा द्वारा अभिप्रेत अर्थ के मध्य सम्बन्ध, (३) रूढ़ि या प्रयोजन में अन्यतर का होना। अर्थात् लक्षणा द्वारा प्रतीत

होने वाला अर्थ या तो प्रयोग परम्परा में विदित हो अथवा उस प्रतीयमान (लक्ष्य) अर्थ की प्रतीति के लिए विशिष्ट लक्षक शब्द के प्रयोग द्वारा वक्ता का कुछ विशेष अर्थ अभिप्रेत हो; उदाहरणार्थ:—'कलिङ्ग:साहसिक:' (कलिङ्ग बड़ा साहसी है ।) वाक्य में कलिङ्ग पद एक देश विशेष का वाचक है, तथा साहसिक पद (साहस धर्म से युक्त का वाचक है । साहस आदि धर्म सचेतन प्राणी के धर्म हो सकते हैं, जड़ देश विशेष के नहीं । इस प्रकार व्याख्या में एकान्वय न हो सकने से मुख्य अर्थ के बोध में बाध उपस्थित होता है; किन्तु वक्ता यहाँ कलिंग शब्द का प्रयोग कलिंग देश के निवासी के लिए करना चाह रहा है, वह देशवासी पुरुषरूप लक्ष्य अर्थ देशरूप वाच्य अर्थ से आधाराधेय भाव से सम्बन्ध है, तथा देश विशेष के वासी के लिए देशवाचक शब्द के प्रयोग की परम्परा (रूढ़ि) भी प्रायः लोक में विद्यमान है, फलतः 'कलिंग: साहसिक:' वाक्य द्वारा 'कलिंग देशवासी पुरुष साहससम्पन्न हुआ करता है' इस अर्थ की प्रतीति श्रोता को होती है । इस प्रकार के उदाहरणों में मुख्यार्थबाध आधाराधेयभाव सम्बन्ध तथा रूढ़ि के रहने से कलिंग आदि शब्द देश विशेष के निवासीरूप अर्थ का बोध लक्षणा द्वारा कराते हैं । इसी प्रकार 'गंगायां घोष:' (गंगा पर अहीरों की वस्ती है) वाक्य में गंगा पद का मुख्य अर्थ जल प्रवाह है, एवं घोष का अहीरों की वस्ती । गंगा पद में प्रयुक्त सप्तमी विभक्ति आधार की बोधक है, फलतः जलप्रवाह आधार में अहीरों की वस्ती मुख्य अर्थ प्रतीत होना चाहिए, किन्तु प्रवाह में अहीरों की वस्ती के आधार बनने की योग्यता नहीं है; फलः उस अर्थ की प्रतीति बाधित रूप से होगी । इस प्रकार मुख्य अर्थ में बाध होने से लक्षणा व्यापार आवश्यक होगा । साथ ही वक्ता के अभिप्रेत अर्थ (लक्ष्य अर्थ) तट एवं वाच्य अर्थ प्रवाह में सामीप्यसम्बन्ध भी विद्यमान है । इसके अतिरिक्त तटरूप अर्थ के लिए गंगापद का प्रयोग करने में वक्ता का एक विशेष प्रयोजन भी है, वह है, अत्यन्त निकटता के कारण तट में गंगा के समान ही शीतलता एवं पावनता (पवित्र करने का सामर्थ्य) का भी बोध साथ-साथ कराना । इस प्रकार प्रस्तुत वाक्य में मुख्यार्थबाध, प्रवाह एवं तट में सामीप्य सम्बन्ध एवं तट में गंगागत शीतलता एवं पावनता की प्रतीतिरूप प्रयोजन होने से लक्षणावृत्ति द्वारा गंगापद से शीतलता आदि विशिष्ट तट का बोध होकर वाक्य में अन्वय होगा ।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा स्वीकृत मुख्यार्थबाध के स्थान पर प्राचीन नैयायिकों ने अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज स्वीकार किया था । किन्तु परवर्ती नैयायिक विश्वनाथ पञ्चानन आदि ने अन्वयानुपपत्ति के स्थान पर तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना है । उनका तर्क है कि यदि अन्वयानुपपत्ति अर्थात् वाक्यार्थ में अन्वय (संगति) का न बन सकना ही लक्षणा का बीज (मूल हेतु) स्वीकार किया जाएगा, तो उस स्थिति में वाक्यगत अनेक पदों में से किसी भी एक के मुख्य अर्थ से

भिन्न लक्ष्यार्थ को स्वीकार करके अन्वय सिद्ध हो जाने पर वाक्यार्थ में विश्रान्ति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता । उदाहरणार्थ—'गंगायां घोषः' वाक्य में गंगा पद से तटरूप लक्ष्यार्थ के स्थान पर घोष पद से मकररूप लक्ष्यार्थ को स्वीकार करके वाक्यार्थ की विश्रान्ति होनी चाहिए, किन्तु ऐसी स्थिति में वक्ता के तात्पर्य का बोध न हो सकने के कारण विश्रान्ति नहीं होती, अतः अन्वय के स्थान पर तात्पर्य अनुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज स्वीकार करना चाहिये । (यद्यन्वयानुपपत्तिः·····यष्टिधरेषु लक्षणा । भाषा परिच्छेद का ८२) उत्तरकालीन प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजिभट्ट की भी सर्वशः यही मान्यता है । वे शक्यसम्बन्ध को ही लक्षणा मानते हैं, तथा उसके बीज के सम्बन्ध में अन्वययानुपत्ति की चर्चा करके भी सिद्धान्तरूप से तात्पर्यानुपत्ति को ही प्रधान हेतु मानते हैं तथा स्वीकार करते हैं कि यदि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना जाएगा तो अन्वय की उपपत्तिमात्ररूप लक्षणा का परिणाम होगा; फलतः 'गंगायां घोषः' वाक्य में घोष पद में भी मकर अर्थ में लक्षणा की संभावना हो सकेगी । इसी प्रकार 'गंगायां पापी गच्छति' वाक्य में गंगा पद से नरक अर्थ में लक्षणा की संभावना होगी, अतः तात्पर्यानुपपत्ति ही वस्तुतः लक्षणा का बीज है । इसके अतिरिक्त 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्' इत्यादि वाक्य में अन्वय में अनुपपत्ति न होने पर भी तात्पर्य की अनुपपत्ति से लक्षणा स्वीकार की जाती है । [स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणा········(पृ० ५२) ········अन्वयानुपपत्तिप्रतिसन्धानं च लक्षणाबीजम् । वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसन्धानमेव लक्षणाबीजम् । अन्यथा 'गंगायां घोषः' इत्यत्र घोषपदे एव मकरादिलक्षणापत्तिः, तावताप्यन्वयानुपपत्तिपरिहारात् । गंगायां पापी गच्छति' इत्यादौ गंगादिपदस्य नरके लक्षणोपत्तेश्च । अस्माकं तु भूतपूर्वपापावच्छिन्नलक्षकत्वे तात्पर्यान्न दोषः । 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्' इति विधावन्वयसंभवेऽपि तात्पर्यानुपपत्त्यैव लक्षणा स्वीकारात् । (प०लघुमंजूषा पृ० ५२–५७) आचार्य भर्तृहरि ने भी 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामितिबालोऽपिचोदितः । उपघातपरे वाक्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति । [वा० प० २. ३१४] इत्यादि शब्दों द्वारा तात्पर्य को लक्षणा का प्रयोजक माना है । प्रभाकर मतानुयायी प्रसिद्ध मीमांसक शालिकनाथ के अनुसार जब किसी पद के वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) की संगति सम्बद्ध प्रकरण में नहीं बन पाती, उस समय वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की उपस्थिति लक्षणा के माध्यम से की जाती है एवं तब वाच्यार्थ मे सम्बन्ध की संगति सम्पन्न होती है । इस सम्बन्धान्वय को ही लक्षणा का मूल मानना चाहिए—वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणामता । [वाक्यार्थमातृकावृत्ति पृ० १३]

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति को विवाद का विषय नहीं माना है, क्योंकि यदि अन्वयानुपपत्ति लक्षणा के समग्र क्षेत्र की आवश्यकता

की पूर्ति नहीं करती तो तात्पर्यानुपपत्ति अव्यवस्था का भी जनक हो सकती है। वक्ता की अपनी अक्षमता के कारण भी यदि तात्पर्य उपपन्न नहीं हो पाता तो वहाँ भी लक्षणा की खोज अव्यवस्था की जनक होगी, जबकि वस्तुतः लाक्षणिक प्रयोग सौन्दर्य के जनक होते हैं। सम्भवतः काव्यशास्त्र के आचार्यों ने वोद्धा को लक्षणावृत्ति की सहायता से अर्थबोध की प्रेरणा के लिए अन्वयानुपपत्ति के समानान्तर मुख्यार्थबाध को एक हेतु के रूप में स्वीकार किया है और वक्ता को अव्यवस्था से नियमित रखने के लिए तृतीय हेतु के रूप में रूढ़ि प्रयोजन में अन्यतर को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। इस प्रकार लक्षणा के हेतु के रूप में प्रायः सभी आलंकारिकों द्वारा (१) मुख्यार्थ-बाध (२) सम्बन्ध एवं (३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन में अन्यतर को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। जिसे मम्मट; विश्वनाथ आदि काव्यचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट लक्षणा के लक्षण के रूप में देखा जा सकता है। आचार्य मम्मट 'मुख्यार्थबाधे·······इत्यादि कहते हुए मुख्यार्थबाध आदि तीनों हेतुओं के रहने पर ही आरोपित क्रिया लक्षणा को स्वीकार करते हैं। काव्य प्रकाश के टीकाकार वामन झलकीकर के अनुसार यह लक्षणा व्यापार साक्षात्सम्बन्ध से मुख्य अर्थ में एवं परम्परया सम्बन्ध से शब्द निष्ठ रहा करता है। साहि····साक्षात्सम्बन्धेन मुख्यार्थनिष्ठा परम्परासम्बन्धेन तु शब्दनिष्ठेत्यर्थः। पृ० ४। आशाधरभट्ट ने 'शक्यसम्बन्धसहकारिणी' विशेषण द्वारा लक्षणा को परिभाषित किया है।

मुकुलभट्ट ने लक्षणा को अभिधावृत्त का ही एक व्यापार स्वीकार करते हुए उसे गौण व्यापार नाम दिया है। शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाऽभिधाव्यापारेणार्था-वगति हेतुत्वम्'। पृ० ३। किन्तु यदि मुकुलभट्ट के उपर्युक्त अभिधावृत्त शब्द का अर्थ अभिधान व्यापार किया जाए तो अनुचित न होगा और उस स्थिति में उनके द्वारा स्वीकृत मुख्य व्यापार को अन्य आचार्यों के शब्दों में अभिधा व्यापार तथा गौण व्यापार को लक्षणा व्यापार कहा जा रहा है; यह मानने पर परस्पर कोई मत भेद न रहेगा।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि आचार्य कुमारिलभट्ट ने लक्षणा और गुणवृत्ति को दो पृथक् शब्द व्यापार के रूप में स्वीकार करते हुए उनकी अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। उनके अनुसार जहाँ अविनाभाव सम्बन्ध के कारण अभिधेयार्थ के साथ ही अर्थान्तर की प्रतीति होती है, वहाँ लक्षणा व्यापार कहा जाता है; तथा जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधेयार्थ में रहने वाले गुणों से युक्त होने के कारण अथवा उक्त गुणों के समान गुणों के कारण होती है, उसे गौणीवृत्ति कहा जाता है। 'अभिधेयाविना भूतप्रतीति लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाण गुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता। [तन्त्रवार्तिक ३५४] प्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि ने भी 'जातिशब्दोन्तरेणापि जाति यत्र प्रयुज्यते,

सम्बन्धिसदृशाद्धर्मात्तं गौणमपरेविदु: । (वा० प० २. २७४) इत्यादि द्वारा उक्त गौण अर्थ के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया था; एवं प्रसिद्ध आलंकारिक उद्भट ने गुणवृत्ति की इस परिभाषा को आधार मानकर ही रूपक अलंकार को लक्षित किया है :—श्रुत्या सम्बन्धविरहाद् यत्पदेन पदान्तरम् । गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् । (काव्यालंकारसार संग्रह १. १२) काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र ने भी कुमारिलभट्ट का अनुसरण करते हुए लक्ष्य और गौण अर्थ को पृथक-पृथक परिभाषित किया है :—'मुख्यार्थसम्बद्धस्तत्त्वेन लक्ष्यमाणो लक्ष्य:' [काव्यानुशासन पृ० २८] । काव्यशास्त्र के आचार्यों ने लक्षणा और गुणवृत्ति को एक ही वृति के अन्तर्गत रखते हुए एक ही परिभाषा से परिभाषित किया है, एवं शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के दो भेद के रूप में उनके स्वरूप को निर्दिष्ट किया है। आचार्य कुमारिलभट्ट द्वारा प्रदत्त गुणवृति के लक्षण में प्रयुक्त 'लक्ष्यमाण' पद स्वयं संकेत देता है कि गुणवृत्ति को भी लक्षणा से पूर्णत: पृथक कर सकना कुमारिलभट्ट के लिए भी सम्भव न हो सका है ।

लक्षणावृति का यह स्पष्ट स्वरूप कब निर्धारित हो सका है, अथवा इसकी सर्वप्रथम चर्चा कहां हुई है, यह कह सकना यद्यपि दुष्कर है, किन्तु हमें इसका सर्वप्रथम निर्देश गौतम के न्यायसूत्र 'सहचरणस्थान········अतद्भावेऽपि तदुपचार: ।' [२. २. ६०] में मिलता है । मीमांसा दर्शन के 'तत्सिद्धि:, जातिसारूप्यात्, प्रशंसा, भूमा, लिंगसमवायात्, सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्, अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्,' (मीमांसा सूत्र १. ४. २३—३०) आदि सूत्रों में भी हमें लक्षणा या गुणवृत्ति के संकेत मिलते हैं, जिनका विशेष उन्मीलन शाबरभाष्य में हुआ है । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी 'चतुर्भि: प्रकारैरतस्मिंस्तद् इति एतद् भवति—तात्स्थ्यात् ताद्धर्म्यात् तत्सामीप्यात् तत्साहचर्यात्' [विधिविशेष खण्ड पृ० ११८] इत्यादि शब्दों द्वारा लक्षणावृत्ति का नाम लिये बिना भी उसे स्वीकृति प्रदान की है । भर्तृहरि के वाक्यपदीयम् में गौण प्रयोग की विस्तृत एवं स्पष्ट चर्चा मिलती है, तथा मुकुलभट्ट की अभिधावृत्तिमातृका में सर्वप्रथम उसका व्यवस्थित विवेचन उपलब्ध होता है ।

सम्बन्ध

लक्षणावृत्ति का मूल आधार अभिधेय एवं लक्ष्य के मध्य विद्यमान सम्बन्ध का है । सम्बन्ध ही वह सेतु है, जिसके माध्यम से प्रतिपत्ता अभिधेय अर्थ की सीमा को पारकर लक्ष्य अर्थ तक पहुँचता है, न्यायसूत्रकार गौतम ने ऐसे दस सम्बन्धों का परिगणन किया है एवं उनके उदाहरण भी उपस्थित किये हैं :—सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तु-

चन्दन-गंगा-शाटक-अन्न-पुरुषेषु अतद्भावेऽपि तदुपचारः। (न्या० सू० २. २. ६०) जैमिनि ने तत्सिद्धि आदि उपचार के आठ कारण बताये हैं [मीमांसा १३. १. ४. २३-३०] महाभाष्यकार पतंजलि ने आधार (तात्स्थ्य) धर्म (ताद्धर्म्य) सामीप्य और सहचरण इन चार सम्बन्धों को लक्षणा के आधार के रूप में स्वीकार किया है। [महाभाष्य १. १. ८.]। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने स्तुति निन्दा आदि की प्रधानता होने पर लक्षणा को प्रायः आवश्यक माना है—स्तुतिनिन्दाप्रधानेषु वाक्येष्वर्थो न तादृशः। पदानां प्रविभागेन यादृशःपरिकल्पते [वा० प० २. २४८] अभिधावृत्तमातृका (मुकुल भट्ट) के अनुसार मीमांसाशास्त्र के प्रमुख आचार्य भर्तृमित्र ने 'अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात्समवायतः। वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा स्मृता' [अ० वृ० मा० पृ० ४५] इस कारिका द्वारा लक्षणा के लिए पांच सम्बन्धों में अन्यतम की सम्भावना स्वीकार की है। अधिकांश परवर्ती आलंकारिकों ने इस कारिका को उद्धृत करते हुए लक्षणा के उदाहरण उपस्थित किये हैं। नागोजिभट्ट ने परमलघुमंजूषा में महर्षि पतञ्जलि निर्दिष्ट उपर्युक्त चार धर्मों में अन्य को लक्षणा के लिए आवश्यक माना है। काव्यशास्त्र में भी उपर्युक्त सम्बन्धों को सामान्यतः लक्षणा के हेतु के रूप में परिगणन किये बिना ही स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु उन सम्बन्धों के आधार पर लक्षणा के भेद नहीं किये हैं। भेदक सम्बन्धों की दृष्टि से उन्होंने समस्त सम्बन्धों को दो वर्गों में वर्गीकृत कर लिया है—(१) सादृश्य (२) सादृश्येतर। उनके अनुसार सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित लक्षणा गौणी तथा सादृश्येतर सम्बन्धों पर आश्रित लक्षणा को शुद्धा कहते हैं, जिनका सोदाहरण विवेचन ग्रन्थकार ने स्वयं ४६-५८ पृष्ठों में किया है।

लक्षणावृत्ति के प्रयोग के अनिवार्य तत्त्वों में रूढ़ि अथवा प्रयोजन में अन्यतम का होना भी आवश्यक है। अर्थात् इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग या तो प्रयोग परम्परा में सामान्यतः प्रचलित हों, अथवा ऐसे प्रयोग करने में वक्ता का कोई प्रयोजन विशेष अन्तर्निहित हो। 'कलिङ्गः 'साहसिकः' आदि वाक्यों में 'कलिङ्ग' देशवासी पुरुष के लिए देशवाचक कलिङ्ग शब्द का प्रयोग लोक व्यवहार में सामान्यतः प्रचलित होने के कारण किया जाता है, जब कि 'गंगायां घोषः' इत्यादि वाक्यों में तट के लिए गंगा पद के प्रयोग में वक्ता का प्रयोजन विशेष छिपा रहता है। इनके अभाव में लक्षणा का प्रयोग सम्भव नहीं है।

लक्षणा-भेद

लक्षणा के विभाजन के सम्बन्ध में भी विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। यद्यपि वह मतभेद बहुत अधिक नहीं है। आचार्य मुकुलभट्ट लक्षणा के सर्वप्रथम दो भेद करना चाहते हैं :—शुद्धा और सोपचारा (उपचारवती), इसे ही गौणी भी कहते हैं। 'शुद्धालक्षणा

में लक्ष्य और वाच्य अर्थों के बीच सादृश्य का अभाव रहता है, जब कि सोपचारा में सादृश्य सम्बन्ध ही लक्षणा का मूल हेतु हुआ करता है।

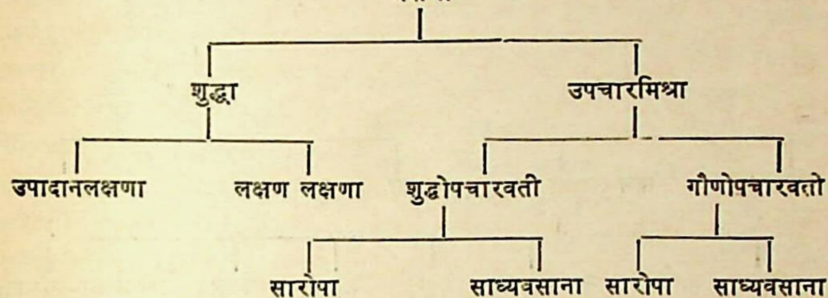
शुद्धा लक्षणा के उनके अनुसार पुनः दो भेद हैं :—उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा। जहां वाच्यार्थ की वाक्यार्थ में अन्वय की सिद्धि के लिए वस्त्वन्तर का आक्षेप किया जाता है, उसे उपादान लक्षणा कहते हैं; और जहां इसके विपरीत अर्थान्तर की सिद्धि के लिए स्व-अर्थ का समर्पण हो, उसे लक्षणलक्षणा कहते हैं। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त शुद्धा (शुद्ध उपचार) और गौणी (सोपचारा या गौणउपचारवती) लक्षणा में आरोप और अध्यवसान भेद से पुनः दो-दो भेद हो जाते हैं। इस प्रकार मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणा का विभाजन निम्नलिखित छः प्रकार से होता है :—उपादानलक्षणा, (२) लक्षणलक्षणा (३) सोपचारा सारोपा शुद्धा, (४) सोपचारा सारोपा गौणी, (५) सोपचारा-साध्यवासना-शुद्धा, (६) सोपचारा साध्यवसाना गौणी।

अनुपद पूर्व अनुच्छेद में कहा जा चुका है कि गौणी लक्षणा में वाच्य और लक्ष्य अर्थ के बीच सादृश्य सम्बन्ध रहा करता है। शुद्धा लक्षणा में यद्यपि सादृश्य के अतिरिक्त कोई भी सम्बन्ध हो सकता है, तथापि मुकुलभट्ट ने सम्बन्धों की चर्चा करते हुए सम्बन्ध अर्थात् सामीप्य, सादृश्य समवाय अर्थात् सामूहिकता, वैपरीत्य एवं क्रियायोग इन पांच सम्बन्धों का परिगणन किया है। इस प्रकार उनके अनुसार लक्षणा के अन्य अनेक सम्बन्ध इन के अन्तर्गत ही समाहित हो जाते हैं।

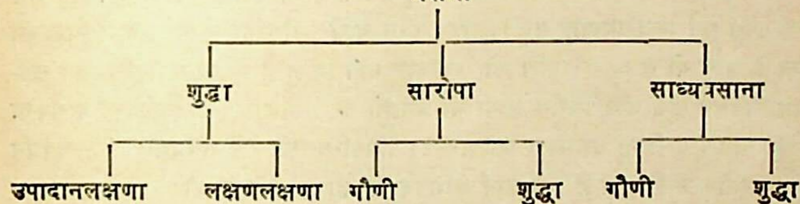
आचार्य मम्मट भी लक्षणा का विभाजन शुद्धा गौणी सारोपा साध्ववासना उपादानलक्षणा एवं लक्षण लक्षणा के रूप में करते हैं। साथ ही वे भी लक्षणा में रूढ़ि या प्रयोजन (फल) में अन्यतर को अनिवार्य मानते हैं; अतः इनके आधार पर भी प्रत्येक लक्षणा भेद के दो-दो प्रकार हो सकते हैं। विद्याधर एवं अप्पय दीक्षित लक्षणा के अन्य प्रकारों को समान रूप से स्वीकार करते हैं किन्तु उन्होंने लक्षणलक्षणा एवं उपादानलक्षणा के स्थान पर क्रमशः जहत् लक्षणा एवं अजहत् लक्षणा नामों को स्वीकार किया है। साथ ही वे इनके समानान्तर जहदजहल्लक्षणा नामक एक अन्य भेद भी स्वीकार करते हैं। इसके उदाहरण के रूप में वे 'ग्रामो दग्धः' (गांव जल गया) पुष्पित वनम् (जंगल फूल उठा) इत्यादि वाक्यों को प्रस्तुत करते हैं जहां एक देश के दग्ध या पुष्पित होने पर समष्टि (समग्र) के वोधक पदों का प्रयोग होता है। लक्षणा के इन भेद प्रभेदों के उदाहरण मूल ग्रन्थों में द्रष्टव्य हैं।

संक्षेप में लक्षणा के भेदों को हम रेखाचित्र में निम्नलिखित प्रकार से देख सकते हैं।

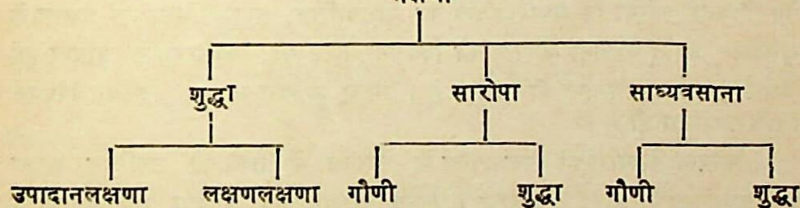
मुकुल भट्ट के अनुसार



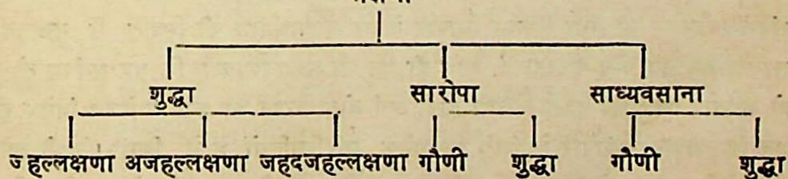
अथवा



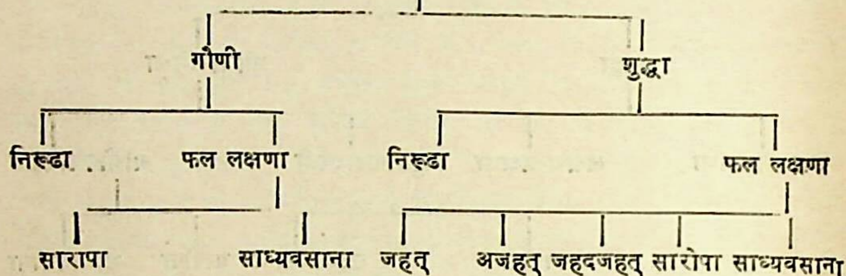
मम्मट के अनुसार



विद्याधर के अनुसार



वृतिवार्त्तिककार दीक्षित के अनुसार



व्यंजना

अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तृतीय शब्द व्यापार व्यञ्जना है। मुकुलभट्ट और उनसे पूर्व शब्द व्यापार पर विचार करने वाले मीमांसा न्याय अथवा व्याकरण शास्त्र के आचार्यों ने व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार नहीं किया है। व्यञ्जनावृत्ति का सर्वप्रथम विवेचन कव और किसने किया था प्रमाणों के अभाव में इसका उत्तर दे सकना सम्भव नहीं है। किन्तु इस शब्द व्यापार का व्यवस्थितरूप हमें सर्वप्रथम आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में मिलता है। आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा भारती और लोचन में तथा मम्मट द्वारा काव्य प्रकाश में प्रबल तर्कों के द्वारा इसका पोपण करने के वाद व्यञ्जना व्यापार को भी शब्द शक्ति के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी है। किन्तु इसे एक संयोग ही कहा जाएगा कि अप्पयदीक्षित का वृत्तिवार्त्तिक, जहां अभिधा एवं लक्षणा के साथ ध्वनन अर्थात् व्यञ्जना व्यापार की विवेचना करने की ग्रन्थारम्भ में प्रतिज्ञा हुई है, केवल लक्षणा विवेचनान्त ही मिलता है। उसका व्यञ्जना-व्यापार विवेचन विषयक अंश अव तक लुप्त ही है।

व्यञ्जना व्यापार की आवश्यकता के सम्बन्ध में तर्कों को उपस्थित करना यहां न प्रासङ्गिक है और न अभीष्ट। किन्तु व्यञ्जना को अभिधा एवं लक्षणा से भिन्न वताने के लिए आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने निम्नलिखित स्थितियों की चर्चा की है। अभिधा व्यापार केवल वही अर्थ बोध कराता है जहां पद और पदार्थ के बीच संकेत विद्यमान हो तथा लक्षणा व्यापार केवल मुख्यार्थवाध की स्थिति में मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोध कराता है, साथ ही यह भी अत्यावश्यक है कि वह अर्थ या तो रूढ़ हो अथवा लक्षक पद द्वारा लक्षणा द्वारा अर्थ बोध कराने का कोई प्रयोजन विशेष हो। जब कि व्यञ्जना व्यापार के लिये इन अनेक परिस्थितियों में से किसी की भी अपेक्षा नहीं होती। न इसके लिए कोई पूर्व संकेत अभीष्ट है और न मुख्यार्थवाध की; और न

मुख्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ के बीच सम्बन्ध विशेष की ही अपेक्षा होती है। व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ से सम्बद्ध भी हो सकता है और असम्बद्ध भी। इसके लिए न लोकप्रसिद्धि (रूढ़ि) की अपेक्षा होती है और न किसी प्रयोजन विशेष की। फिर भी यदि व्यंग्य अर्थ की प्रतीति के लिए किन्ही परिस्थितियों की चर्चा करना चाहें तो कह सकते हैं कि कभी वक्ता का वैशिष्टय व्यंग्यार्थ की प्रतीति में सहायक होता है; तो कभी श्रोता का वैशिष्टय (बोद्धव्य वैशिष्टय); कभी वाक्यान्तरसन्निधि सहायक के रूप में देखी जा सकती है, तो कभी वाच्यान्तरसन्निधि। कभी प्रकरण सहायक होता है, तो कभी देश और काल। तात्पर्य यह है कि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में सहायक परिस्थितियां अनियत हैं अपरिमित हैं। वाच्य और लक्ष्य अर्थ सदा ही नियत अर्थात् निश्चित रहा करता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ सदा ही अनियत रहता है। वह असीम होता है, सीमा में आबद्ध नहीं होता।

आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त आदि ने व्यंग्य अर्थ के निम्नलिखित भेद किये हैं:—

अभिधामूल अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य एवं लक्षणामूल अर्थात् अविवक्षितवाच्य। अविवक्षितवाच्य के सामान्यतः केवल दो प्रकार स्वीकार किये जाते हैं:—अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत। विवक्षितान्यपरवाच्य के प्रथम दो भेद स्वीकार किये गये हैं—संलक्ष्यक्रमव्यंग्य और असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य- असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य अर्थ रस आदि हुआ करता है, जो रस भाव आदि तथा उनके विभाव अनुभाव आदि के भेद से अनन्त प्रकार का है, जिसकी गणना सम्भव नहीं है; अतः उसे एक प्रकार का ही माना जाता है। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के प्रथम तीन प्रकार स्वीकार किये जाते हैं—शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक एवं उभयशक्तिमूलक। शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य अर्थ के केवल दो प्रकार हैं:—वस्तुव्यंग्य एवं अलंकारव्यंग्य। अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य अर्थ के तीन प्रकार हैं:—स्वतः संभवी कविप्रौढोक्तिसिद्ध एवं कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध। इन तीनों भेदों में से प्रत्येक में पुनः निम्नलिखित चार-चार प्रभेद हो जाते हैं:—(१) वस्तु अर्थ से व्यङ्ग्य वस्तुरूप अर्थ, (२) वस्तु अर्थ से व्यङ्ग्य अलंकाररूप अर्थ, (३) अलंकार अर्थ से व्यङ्ग्य वस्तुरूप अर्थ तथा (४) अलंकार अर्थ से व्यङ्ग्य अलंकाररूप अर्थ। उभय शक्ति मूल व्यङ्ग्य अर्थ अनेक प्रकार का हो सकता है, अतः पुनः उसके भेद न कर वे इसे एक रूप में ही परिगणित करते हैं। इस प्रकार लक्षणामूल व्यंग्य के दो प्रकार, अभिधामूल में असंलक्ष्यक्रम का एक प्रकार, संलक्ष्यक्रम में शब्दशक्ति मूल के दो प्रकार, अर्थशक्तिमूल मे चार स्वतःसंभवी, चार कविप्रौढोक्तिसिद्ध एवं चार कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्धि। इस प्रकार संक्षेप में बारह

प्रकार अर्थ शक्तिमूल में एवं उभय शक्तिमूल का एक प्रकार, कुल मिलाकर अठारह प्रकार व्यंग्य अर्थ के हो सकते हैं। व्यञ्जना का यह विभाजन अभिनवगुप्त एवं मम्मट आदि आचार्यों ने आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसरण पर स्वीकार किया है।

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक क्रोचे काव्य को सहजानुभूति स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार सहजानुभूति अनिवार्यतः व्यञ्जना है, जो अखण्डरूपिणी हुआ करती है। उसमें अभिधा लक्षणा व्यञ्जना अथवा वाच्य और व्यंग्य का भेद नहीं होता। फिर भी वह चेतना की अरूप झंकृतियों का एक समन्वित विम्वरूप होती है। निश्चित ही यह विम्वरूप सहजानुभूति कथित नहीं हो सकती केवल ध्वनित ही हो सकती है।[1] क्रोचे के अनुयायियों ने अभिव्यञ्जना के स्थूलरूप को ही ग्रहण किया है, और अभिव्यञ्जना के चमत्कार को ही कला का सार तत्त्व माना है। स्वभावतः इन लोगों की मान्यता का भारतीय काव्यशास्त्र में स्वीकृत ध्वनि से निकटतर सम्बन्ध हैं'।[2]

आधुनिक भारतीय काव्यशास्त्र के मनीषी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'व्यञ्जना दो प्रकार की की मानी गयी है—वस्तुव्यञ्जना और भावव्यंजना। किसी तथ्य या वृत्त की व्यंजना वस्तुव्यंजना कहलाती है और किसी भाव की व्यंजना भाव व्यंजना (भाव की व्यंजना ही जब रस के सब अवयवों के सहित होती है, तब रस व्यञ्जना कहलाती हैं)। यदि थोड़ा ध्यान देकर विचार किया जाए तो दोनों प्रकार की वृत्तियां भिन्न ठहरती है। वस्तु व्यञ्जना किसी तथ्य या वृत्त का बोध कराती है, पर भावव्यञ्जना जिस रूप में मानी गयी है, उस रूप में किसी भाव का संचार करती है, अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों भिन्न कोटि की क्रियाएँ हैं। पर साहित्य के ग्रन्थों में दोनों में केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि एक में वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित नहीं होता [असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य]। पर बात इतनी ही नहीं जान पड़ती। रति क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं है, अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यङ्ग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त जान नहीं पड़ता। यदि व्यङ्ग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप में होगा कि अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है। पर केवल इस बात का ज्ञान करना कि अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है, स्वयं क्रोध या रतिभाव का रसात्मक अनुभव करना नहीं है। रस-व्यञ्जना इस रूप

---

१. डा० नगेन्द्र : ध्वन्यालोक भूमिका पृ० ५० ।

२. वही० पृ० ५० ।

में मानी भी नहीं गयी है। अतः भाव-व्यञ्जना वस्तु-व्यञ्जना से सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति है।[१]

'रस-व्यञ्जना की इसी भिन्नता या विशिष्टता के वल पर 'व्यक्तिविवेककार' महिमभट्ट का सामना किया गया था। जिनका कहना था कि व्यञ्जना अनुमान से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। विचार करने पर वस्तु व्यञ्जना के सम्वन्ध में भट्ट जी (महिमभट्ट) का पक्ष ठीक ठहरता है। व्यंग्य वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा ही पहुँचते हैं। पर रस व्यञ्जना लेकर जहां वे चले हैं, वहां उनके मार्ग में वाधा पड़ी है। अनुमान के द्वारा बेधड़क इस प्रकार के ज्ञान तक पहुँचकर कि 'अमुक के मन में प्रेम है' उन्हें फिर इस ज्ञान को 'आस्वाद पदवी तक पहुँचाना पड़ा है। इस 'आस्वाद-पदवी' तक रत्यादि का ज्ञान किस क्रिया से पहुँचता है, यह सवाल ज्यों का त्यों रह जाता है। अतः इस विषय को स्पष्ट कर लेना चाहिए। या तो हम भाव या तथ्य के सम्वन्ध में व्यञ्जना का प्रयोग न करें अथवा वस्तु या तथ्य के सम्वन्ध में।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यशास्त्र के क्षेत्र में तीन शब्दव्यापार (शब्द-वृत्तियां) स्वीकार किये जाते हैं :—अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना। इनके अतिरिक्त मीमांसक आचार्यों का एक वर्ग तात्पर्य नामक एक अन्य व्यापार भी स्वीकार करता है, जो पदार्थ प्रतीति के अनन्तर उनका समन्वय कर वाक्य के अर्थ का बोध कराता है। मीमांसकों के इस वर्ग के अनुसार अभिधा द्वारा पदार्थों का बोध होता है और अभिधा की शक्ति यहीं समाप्त हो जाती है; एवं अभिधा व्यापार से भिन्न तात्पर्यवृत्ति नामक व्यापार के द्वारा पदार्थों के अन्वय से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।[३] क्योंकि इस प्रक्रिया में पहले पदार्थ अभिहित होता है तदनन्तर उसका अन्वय होता है, अतः इस पक्ष को अभिहितान्वयवाद कहते हैं। आचार्य कुमारिलभट्ट इसी पक्ष को स्वीकार करते हैं। इस वाद में स्वीकृत तात्पर्यवृत्ति एक प्रकार से अभिधा का सहायक व्यापार है, उससे भिन्न नहीं। क्योंकि इस पक्ष में एक सामान्य वाक्यार्थ की प्रतीति भी बिना दोनों व्यापारों के नहीं हो पाती, तथा भावाभिव्यक्ति के सन्दर्भ में पदार्थों का तब तक महत्त्व नहीं है, जब तक वाक्यार्थ की प्रतीति न हो। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इसीलिए तात्पर्यवृत्ति को स्वतन्त्र व्यापार के रूप में कोई मान्यता प्रदान नहीं की है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अर्थ प्रतीति की प्रक्रिया के अनुसन्धान के लिए मीमांसकों द्वारा प्रारम्भ की गयी यात्रा में न्याय व्याकरण और काव्यशास्त्र

१–२. चिन्तामणि भाग २. पृ० १६३–१६४।

३. (क) शावर भाष्य १. १. ७., (ख) वाक्यपदीय काण्ड २

के आचार्यों ने समानरूप से भाग लिया है। इनकी परस्पर भिन्न मान्यताओं ने सभी दिशाओं में चिन्तन को प्रेरित किया है, जिसके फलस्वरूप इस दिशा में जो चिन्तन हुआ है, वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ है ,और उसी चिन्तन की पृष्ठ भूमि में आधुनिक युग के चिन्तकों को भी प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त होता है।

शब्द व्यापार विषयक कुछ स्फुट उक्तियाँ

१—(क) अगतिश्चैषा यल्लक्षणाश्रयणम्। शावर भाष्य ७. २. १३.

(ख) श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिर्ज्यायसी। वही १. ४. २.

(ग) श्रुतिलक्षणाविषये श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। वही ६. ३. ५१

(ङ) लक्षणा इति चेद् वरम्। लक्षणा कल्पिता न यागाभिधानम्। लौकिकी हि लक्षणा हठोऽप्रसिद्धकल्पना।

—वही १. ४. २.

२—(क) वह्नित्वलक्षितादर्थाद् यत् पैङ्गल्यादि गम्यते।
तेन माणवके बुद्धिः सादृश्यादुपजायते॥ —तन्त्र वार्तिक पृ० ३५४

(ख) पूर्वानुभूत एवार्थः प्रथमं पदात्॥ वही पृ० ३५८

(ग) निरूढाः लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥ वही पृ० ३५८

(घ) सर्वथा तावद् अयं गुणमुख्यविभागः श्रोतृणामर्थविशेषावधारणे व्याप्रियते। ते च पदवेलायामनध्यारोपितस्वार्थवृत्त्येव सिंहादिपदमध्यवसाय देवदत्तादिपदसामानाधिकरण्यान्यथानुपपत्त्या गुणतां कल्पयन्ति। वही पृ० ३५८

(ङ) अजहत्स्वार्थाः सर्वाः शब्दप्रवृत्तयः। वही पृ० ३५६

३—वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्याऽन्वयाल्लक्षणा मता॥

—शालिकनाथ (प्राभाकर) वाक्यार्थ वृत्ति

४—(क) लक्षणा च यथासंभवं सन्निकृष्टेन विप्रकृष्टेन वा स्वार्थसम्बन्धेन प्रवर्त्तते।—ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य ३. १. ६.

(ख) कथं तर्हि गवादिपदाद् व्यक्तेर्भानम् इति चेत्, जातेर्व्यक्तिसमानसंवित्संवेद्यत्वात् इति ब्रूमः।....अथवा व्यक्तेः लक्षणयावगमः॥

—वेदान्त परिभाषा पृ० १६३–६४, १६६

५—(क) यत्र च गुणत्वं न तत्रान्तरेणार्थप्रकरणशब्दान्तराऽभिसन्बन्धात् भवति सम्प्रत्ययः।

—महाभाष्य भर्तृहरि व्याख्या १. १. ६.

(ख) ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्वले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः॥—वाक्यपदीय २. ११४

(ग) स्तुतिनिन्दाप्रधानेषु वाक्येष्वर्थो न तादृशः।
पदानां प्रविभागेन यादृशः परिकल्प्यते॥ —वही २. २४६

(घ) अनेकार्थत्वमेकस्य यैः शब्दस्यानुगम्यते।
सिद्धचसिद्धिकृता तेषां गौणमुख्यप्रकल्पना॥
अर्थप्रकरणापेक्षो यो वा शब्दान्तरैः सह।
युक्तः प्रत्याययत्यर्थं तं गौणमपरे विदुः॥
शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थप्रसिद्धो यस्य गम्यते।
स मुख्य इति विज्ञेयो रूपमात्रनिबन्धनः।

—वही २. २६५–२६७

(ङ) श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादात्म्यमवसीयते।
मुख्यं तमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्॥ —वही २. २८०

(च) नैवाधिकत्वं धर्माणां न्यूनता वा प्रयोजिका।
आधिक्यमपि मन्यन्ते प्रसिद्धन्यूनतां क्वचित्।
जातिशब्दोऽन्तरेणापि जातिं यत्र प्रयुज्यते।
सम्बन्धिसदृशाद् धर्मात्तं गौणमपरे विदुः॥
विपर्यासादिवार्थस्य यत्रार्थान्तिरतामिव।
मन्यन्ते स गवादिस्तु गौण इत्युच्यते क्वचित्॥

—वही २. २७४–२७६

(छ) गन्तव्यं दृश्यतां सूर्य इति कालस्य लक्षणे।
ज्ञायतां काल इत्येतत्सोपायमभिधीयते॥ —वही २. ३१२

(ज) काकेभ्यो दधिरक्ष्यतामिति बालोऽपि चोदितः।
उपघातपरे वाक्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति॥—वही, २. ३१४

(झ) (i) व्याघ्रादिव्यपदेशेन यथा बालो निवर्त्यते।
असत्योऽपि तथा कश्चित्प्रत्यवायो विधीयते॥ —वही २. ३२२

(ii) यथा 'रुदन्तं व्याघ्रो भक्षयति' इति बालस्योच्यते' न तत्र व्याघ्र-भक्षणं वस्तुस्थित्या संभवति, केवलं मा कदाचित् त्वं रोदीरिति रोदननिषेध एव तस्य क्रियते। —वही पुण्यराज व्याख्या।

७—न च 'चित्र' पदं चित्रगोस्वामिलक्षकम्, तत्र गोपदार्थानिन्वयात्। नापि गोपदं लक्षकम्, गोस्वामिनि चित्रपदार्थानिन्वयापत्तेः॥

—तत्त्वचिन्तामणि शब्द खण्ड पृ० ७३२

८—(क) चित्रगुरित्यादौ स्वाम्यादिप्रतीतये शक्तिरावश्यकी, न च लक्षणया निर्वाहः। —वैयाकरण भूषणसार पृ० १७७

(ख) वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव तद्बीजम्॥

—परम लघुमंजूषा पृ० ११४

९—लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः॥

—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० २८५

कुछ विशिष्ट संकेत :—

अभिधावृत्तमातृका में शब्दशक्ति के सम्बन्ध में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री एवं इस प्रसंग में क्रमिक इतिहास के कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण सूत्र प्राप्त होते हैं। यथा—

१. अभिधेयार्थ-प्रतीति के सन्दर्भ में कुमारिलभट्ट का अभिहितान्वयवाद एवं प्रभाकर का अन्विताभिधानवाद सुविदित है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार पदों के समूहरूप वाक्य को सुनने के अनन्तर (अभिधाव्यापार के द्वारा पदार्थों का बोध होता है तथा अभिहित पदार्थों का अन्वय करते हुए वाक्यार्थ का बोध तात्पर्य शक्ति के द्वारा हुआ करता है। इसके विपरीत अन्विताभिधानवाद के अनुसार वाक्य में पदों का अन्वय पहले से हो रहता है; अतः परस्पर अन्वित पदों से अन्वित पदार्थ-रूप वाक्यार्थ का बोध अभिधाव्यापार के द्वारा हुआ करता है। इस परम्परा में तात्पर्यशक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं होती है। अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद की चर्चा के अनन्तर आचार्य मुकुलभट्ट ने एक ऐसी परम्परा की ओर संकेत किया है, जिसमें इन दोनों का समन्वय स्वीकृत रहा है। इस परम्परा में पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों ही स्वीकृत रहे हैं, अतः सामान्यभूत पदार्थों से विशिष्ट पदों की अपेक्षा से विचार किया जाए तो अभिहितान्वय एवं वाक्य की अपेक्षा से विचार करने पर अन्विताभिधान स्वीकार्य होता है। इस प्रकार इस परम्परा में अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद दोनों ही स्वीकृत होते हैं [अन्येषां तु मते-पदानां तत्तत्सामान्य-भूतो वाच्योऽर्थः, वाक्यस्य तु परस्परान्विताः पदार्था इति पदापेक्षयाऽभिहितान्वयः, वाक्या-

पेक्षया तु अन्विताभिधानम् । एवं चैतयोरभिहितान्वयान्विताभिधानयोः समुच्चय इति-पृ० ४१] । इसके अतिरिक्त वे अखण्डवाक्यार्थवादियों की एक चतुर्थ परम्परा की भी चर्चा करते हैं, जिसमें उक्त तीनों ही वाद (अभिहितान्वयवाद-अन्विताभिधानवाद-समुच्चयवाद) स्वीकृत नहीं हो पाते । क्योंकि इस परम्परा के अनुसार परमार्थतः वाक्य एवं वाक्यार्थ अखण्ड हैं । फलतः पद एवं पदार्थों की कोई पारमार्थिक सत्ता है ही नहीं । ऐसी स्थिति में अभिधान से पूर्व अथवा पश्चात् किसी भी स्थिति में अन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता वाक्यार्थ का अभिधान मात्र होता है । अतः इस परम्परा के अनुसार तीनों ही वाद कल्पना मात्र है । ['अखण्डवाक्यार्थवादिनस्त्वाहुः परमार्थतो।वाक्यवाक्यार्थयोरखण्डत्वान्नाभिहितान्वयो नाप्यन्विताभिधानम्, न च तत्समुच्चयो युज्यते, पदार्थानामविद्यमानत्वात्, कल्पितपदार्थनिष्ठत्वेनोभयमपि व्यस्तसमस्तरूपतया कल्प्यत इति। पृ० ४१]

उपर्युक्त चारों परम्पराओं में अभिधा और लक्षणा की संगति करते हुए उनका कहना है कि अभिहितान्वयवाद मानने पर 'पदार्थों का अभिधान होने के अनन्तर आकांक्षा योग्यता एवं सन्निधि की महिमा से उनका विशेषणविशेष्यभावरूप अन्वय होने पर मुख्यार्थबाध आदि को स्थिति में लक्षणाव्यापार व्यापृत होता है [यदा तावदभिहितान्वयः तदा स्ववाचकैरभिहितानां पदार्थानामभिहितोत्तरकालम् आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिमाहात्म्याद् विशेषणविशेष्यभावात्मके परस्परमन्वये सति सा लक्षणा ···· । पृ० ४२] ।

अन्विताभिधानवाद को स्वीकार करने वालों के पक्ष में क्योंकि अन्वित पदार्थ ही वाच्य होते हैं, तथा उनमें (विशिष्ट पदार्थों में) अन्वय तब तक संगत नहीं होता, जब तक कि तत् तत् वाक्यार्थविषयक षड्विधा लक्षणा का आश्रयण नहीं किया जाता। अतः अन्विताभिधान पक्ष में वाक्यार्थरूप विशिष्ट अर्थों के वाच्य होने से पूर्व ही निमित्त अवस्था में ही लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है [अन्विताभिधानपक्षे त्वन्वितानां विशिष्टानामेव पदार्थानां 'वाच्यत्वम्' अभिधेयत्वम्, न तु पदार्थानां सामान्यभूतत्वेनाभिहितानां वैशिष्ट्यम् । तत्र विशिष्यमाणानां वस्तूनां पदार्थत्वं तावन्न घटते, यावत्सकलवाक्यार्थानुयायितया प्रतिपन्नस्याव्यभिचरित-स्व-वाचकसम्बन्धस्य सामान्यरूपस्य निमित्तभूतस्यार्थस्य सम्प्रत्यये सति तत् तत् वाक्यार्थविषयतया यथाविषयं षट्प्रकारा लक्षणा नाविर्भवति । अतोऽन्विताभिधाने विशिष्टानां पदार्थानां वाक्यार्थ-स्वभावानां यद् वाच्यत्वं तस्य पुरः = तस्मात् पूर्वं निमित्तावस्थायां लक्षणावस्थिता । पृ० ४२-४३]

समुच्चयवाद को स्वीकर करने वालों के पक्ष में पूर्व प्रकार से ही पदों की अपेक्षा से पदार्थरूप वाच्यार्थ की प्रतीति के बाद लक्षणा होगी एवं वाक्य की अपेक्षा से वाच्यार्थ की प्रतीति से पूर्व लक्षणा होगी। अर्थात् इस पक्ष में अपेक्षा विशेष से लक्षणा वाच्यार्थ की प्रतीति से पूर्व भी होगी और उपरान्त भी [अभिहितान्वयान्वितार्भिधानसमुच्चये तु पूर्वोदितन्यायद्वितयसंकलनया पदापेक्षया वाच्यत्वोत्तरकालभाविनी लक्षणा भवति। वाक्यापेक्षया च वाक्यार्थोत्तरकालं तस्याः वाच्यत्वात् पूर्वमवस्थानम्। तदिमुक्तं 'द्वये द्वयमि'ति। 'द्वये' अभिहितान्वयान्विताभिधानसमुच्चयात्मके 'द्वयं' वाच्यादूर्ध्वम्, प्राग्भावश्च लक्षणाया इत्यर्थः। पृ० ४३]

अखण्डवाक्यवाक्यार्थ मानने वालों के पक्ष में परमार्थतः लक्षशा होती ही नहीं। क्योंकि इस पक्ष में पृथक् पृथक पदार्थों की अभिधेयता ही नहीं वन पाती [अखण्डे तु वाक्यार्थेऽसौ लक्षणा परमार्थेन नास्ति। भिन्नानां पदार्थानां परमार्थतोऽभिधेयभावस्यानुपपद्यमानत्वात्, तदाश्रितत्वाच्च लक्षणायाः। पृ० ४३]

२. लक्षणा प्रकरण में गौणीसारोपालक्षणा के उदारण के रूप में 'गौर्वाहीकः' (वाहीक गौ है) वाक्य सभी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस वाक्य में लक्षणा की सहायता से वाक्यार्थ प्रतीति की प्रक्रिया क्या है? इसका विवेचन काव्य प्रकाश एव साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में प्रायः सर्वत्र किया गया है। वहां इस प्रसंग मे तीन पक्षों को प्रस्तुत करते हुए प्रथम दो का खण्डन करके अन्तिम पक्ष स्वीकृत किया गया है! प्रथम पक्ष के अनुसार 'गौर्वाहीकः' वाक्य में गो पदार्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा तथा गोगत गुणों की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है, गोगत लक्षित गुणों के सदृश वाहीक मे विद्यमान गुणों की प्रतीति अभिधा द्वारा होने पर शब्द आरोप द्वारा अर्थात् गुण साम्य के कारण वाहीक शब्द पर गो शब्द के आरोप के द्वारा गौर्वाहीकः मे एकवाक्यता पूर्वक अर्थ प्रतीति होती है [अत्र केचिदाहुः गोसहचारिणोगुणाः जाड्यमान्द्याब्दयो लक्ष्यन्ते, ते च गो शब्दस्य वाहीकार्थाभिधाने निमित्तीभवन्ति। सा०द० ३६। केचितूपचारे शब्दोपचारमेव मन्यन्ते नार्थोपचारम्। अ० वृ० मा० पृ० १२] दूसरा पक्ष है जहां गो गत गुणों की प्रतीति अभिधा से स्वीकार की जाती है। इस पक्ष में शब्दोपचार न होकर अर्थोपचार होता है; और अर्थोपचार से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। ['अन्ये च पुनर्गोशब्देन वाहीकार्थो नाभिधीयते किन्तु स्वार्थसहचारिगुणसाजात्येन वाहीकार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते'। सा० द० पृ० ३६]। 'अत्र हि गो शब्दो वाहिकशब्देनानुपद्यमानसामानाधिकरण्याद् बाधितमुख्यार्थः सन् गोगता ये जाड्यमान्द्यादयो गुणाः तत्सदृशजाड्यमान्द्यादिगुणोपेते वाहीके उपचरितः। अ० वृ० मा० पृ० १२] तृतीय पक्ष जिसे मम्मट विश्वनाथ आदि आचार्य स्वीकार करते हैं, वह है वाहीकार्थ की ही लक्षणा द्वारा प्रतीति।

काव्यप्रकाश साहित्य दर्पण आदि के पाठकों के मस्तिष्क में यह प्रश्न सदा प्रकट होता है कि पूर्वोक्त मत किन आचार्यों के हैं। अभिधावृत्तमातृका के अध्ययन से हमें इस प्रश्न के समाधान के सूत्र प्राप्त हो जाते हैं। मम्मट आदि द्वारा परिलक्षित कराया गया द्वितीय पक्ष, जिसमें वाहीकगत गुणों की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है, को आर्थ आरोप के रूप में मुकुलभट्ट ने स्वयं स्वीकार किया है।

मुकुलभट्ट द्वारा स्वीकृत इस अर्थोपचार पक्ष के पूर्व संभवतः शब्दोपचार पक्ष ही स्वीकृत कर रहा है। जिसको स्पष्ट करते हुए शब्दोपचार का नाम लिये बिना ही मम्मट आदि ने 'गोगत गुणों की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है' के रूप में प्रस्तुत किया है। लक्षणा में शब्द आरोप का सिद्धान्त किन किन आचार्यों का रहा, है इसे समग्र रूप से कह सकना तो संभव नहीं है। किन्तु उसका संकेत हमें उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह में मिलता है। वहां रूपक अलंकार के लक्षण के रूप में गुणवृत्ति को आश्रय स्वीकार किया गया है, और कहा गया है कि जहां शाब्द सम्बन्ध बाधित होता है और गुणवृत्ति से पद से पदान्तर का सम्बन्ध (आरोप) किया जाता है, वहां रूपक अलंकार होता है। [श्रुत्या सम्बन्धविरहात् यत्पदेन पदान्तरम्। गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्॥ का० सा० सं० १'११] इसे ही स्पष्ट करते हुए इन्दुराज ने कहा है कि ऐसे स्थलों में उपमान में विद्यमान गुणों के सदृश उपमेय में गुणों को देखकर उपमेय पर उपमान शब्दों और इसके रूप का आरोप होता है [अत्र चोपमानवर्त्तिनो ये गुणाः तत्सदृशगुणदर्शनादुपमेयोपमानगतयोः शब्दरूपयोरारोपः। ल०वृ०पृ० १२]। आचार्य मम्मट ने उपमानभूत गो आदि के गुणों की लक्षणा द्वारा प्रतीति कहकर आगे की प्रक्रिया का संकेत किये बिना खण्डन किया था। उद्भट और उनके टीकाकार ने उसे उपर्युक्त रूप से स्पष्ट किया है। इन्दुराज के अनुसार इस शब्दारोप की प्रक्रिया में तीन अवान्तर विकल्प हो सकते हैं—(१) शब्दारोपपूर्वक अर्थारोप, (२) अर्थारोपपूर्वक शब्दारोप एवं (३) शब्दारोप और अर्थारोप का सहभाव [तत्र च त्रयोदर्शनभेदाः। केचिदत्र शब्दारोपपूर्वकमर्थारोपं ब्रुवते, अपरे त्वार्थारोपपूर्वकं शब्दारोपम्। अन्यैस्तु शब्दारोपार्थारोपयोर्यौगपद्यमभिधीयते। वही पृ० १२]। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'गौर्वाहीकः' इत्यादि स्थलों में गौ आदि पदों से गौणीलक्षणा के माध्यम से अर्थ प्रतीति के सम्बन्ध में मम्मट विश्वनाथ आदि द्वारा संकेतित प्रथम पक्ष काल्पनिक न होकर एक सुविदित सिद्धान्त रहा है। उद्भट वर्त्तमान में उसका प्रतिनिधित्व करते हैं और इन्दुराज भी उसके सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट सूचना देते हैं। स्मरणीय है गुण वृत्ति के प्राधान्य की स्थिति में रूपक अलंकार मानने वाले एकमात्र उपलब्ध आचार्य उद्भट हैं, तथा वे स्वयं को संकलन कर्त्ता कहते हैं; उनके ग्रन्थ का नाम भी 'काव्या-

लंकारसारसंग्रह' इस तथ्य को सूचित करता है। जिससे यह निश्चित होता है कि गुणवृत्ति की प्रधानता में ही रूपक अलंकार मानने वालों की, साथ ही उपमानगत गुणों की लक्षणा से प्रतीति होने पर शब्द आरोप के माध्यम से अर्थ प्रतीति मानने वालों की एक सुविदित परम्परा रही है, मम्मट विश्वनाथ आदि ने जिसकी आलोचना की है।

इन्दुराज ने शब्द-अर्थ दोनों के आरोप (उभयारोप) के एक पक्ष की चर्चा की है। मुकुलभट्ट उस उभयारोप पक्ष को ही स्वीकार करते हैं और इस प्रकरण में 'आरोप' शब्द का ही प्रयोग भी करते हैं जिसे मम्मट एवं विश्वनाथ आदि ने प्रथम प्रथम एवं द्वितीय पक्ष को प्रस्तुत करते हुए छोड़ दिया है जिसके फलस्वरूप इन दोनों पक्षों के मूल को खोजने में पर्याप्त असुविधा रही है। इस पक्ष को सिद्धान्तरूप से प्रस्तुत करते हुए मुकुलभट्ट ने लिखा है कि 'गौ उपचार वहां होता है जहां मूलभूत उपमान-उपमेयभाव का समाश्रयण कर उपमान गत गुणों के सदृश गुणों के आधार पर लक्षणा का आश्रयण कर उपमान शब्द और उसके अर्थ दोनों का उपमेय में आरोप किया जाता है। इसे ही 'गौर्वाहीक:' उदाहरण में कुछ और स्पष्ट करते हुए कहा है कि यहां गोगत जाड्यमान्द्य आदि गुणसदृश मान्द्य आदि गुणों के कारण वाहीक में गो शब्द और गोत्व अर्थ दोनों का उपचार होता है। [गौण: पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणां पुरस्कृत्योपमेये उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते। स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्देनाभिधीयते, यथा 'गौर्वाहीक' इति। अत्र हि गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसदृश ाड्यमान्द्यादियोगाद् वाहीके गोशब्द-गोत्वयोरुपचार:। अभिधा वृत्तमातृका पृ० १७]

काव्यशास्त्र के इतिहास के अनुसन्धाताओं की दृष्टि से भी अभिधावृत्तमातृका में कुछ महत्वपूर्ण सूत्र प्राप्त होते हैं। जिन में प्रथम है भर्तृमित्र का संकेत। काव्यशास्त्र के वृत्ति विषयक चर्चा करने वाले प्राय: सभी आचार्यों ने 'अभिधेयेन सम्बन्धात्' इत्यादि कारिका को उद्धृत करते हुए लक्षणा के पञ्चविधत्व का प्रतिपादन किया है किन्तु इस कारिका के सम्बन्ध में वे मौन रहे हैं। मुकुलभट्ट ने स्पष्ट शब्दों में इस कारिका को भर्तृमित्र की कारिका माना है [तत् पञ्च प्रकारतयाचार्यभर्तृमित्रेण प्रदर्शितम्—'अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायत:। वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता इति'। [अ० वृ० मा० पृ० का० ४५]

इसके अतिरिक्त मुकुलभट्ट ने कारिका सं० १० एवं ११ की संयुक्त अवतारणिका एवं उसकी व्याख्या में अनेक बार सहृदय नामक आचार्य का इस रूप में संकेत किया है जिससे विदित होता है कि उन्होंने लक्षणा व्यापार के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन

करते हुए 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' 'विवक्षितवाच्य' एवं 'अविवक्षितवाच्य' नाम से लक्षणा का त्रैविध्य स्वीकार किया था [पूर्वोपवर्णितायां क्वचिद् वाच्यस्याति तिरस्कारः, क्वचिद् विवक्षितत्वं क्वचिच्चाविवक्षितत्वमित्येवंविधं त्रयं यत् सहृदयैरुपदर्शितं तस्य····। [अ० वृ० मा० पृ०५०] लक्षणा के इस त्रिविध विभाजन पर ही सम्भवतः उत्तरकालीन आचार्यों द्वारा विपरीतलक्षणा, उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा भेद स्वीकार कर लिये गये हैं। इसी प्रकरण में मुकुलभट्ट ने 'सहृदयैः' पद का प्रयोग 'काव्यवर्त्मनि' पद के साथ किया है, जिससे उनका संकेत संभवतः ध्वनिकारिकाकार की ओर है। इसी प्रकरण में (कारिका संख्या १० एवं ११ की व्याख्या के क्रम में ही) दो वार 'व्यंग्य' पद का प्रयोग किया है, जो उपर्युक्त कल्पना की पुष्टि करता है। क्योंकि ध्वन्यालोककार ने लक्षणा के उपर्युक्त तीन भेद लक्षणा के न मानकर विवक्षितान्यपरवाच्य को अभिधामूलक एवं अविवक्षितवाच्य (अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत) को लक्षणामूलक व्यञ्जना का भेद माना है। अतः मुकुलभट्ट द्वारा संकेतित 'सहृदय' आनन्दवर्धन न होकर उनके पूर्ववर्ती हैं, और संभवतः ध्वनिकारिकाकार हैं जैसा कि अनेक ऐतिहासिक स्वीकार करते हैं; और बहुत सम्भव है कि उन्होंने ध्वनिकारिका से पूर्व लक्षणा का विवेचन करने वाले किसी अन्य ग्रन्थ की रचना की हो। स्मरणीय है कि इस प्रकरण में मुकुलभट्ट ने व्यंग्य शब्द का भी दो वार प्रयोग किया है। यह भी स्मरणीय है कि आनन्दवर्धन से दो शताब्दी पूर्व अर्थात् सप्तम शताब्दी में सिंहलद्वीपस्थ अनुराधपुर के राजा शिलामेघवण्ण या शिलामेघसेन ने सियवसलकुर ग्रन्थ की रचना करते हुए व्यंग्यार्थ (प्रतीयमानार्थ) को स्वीकार किया है [कारिका सं० ५. एवं ३६८][1] ये सूचनाएँ व्यञ्जनासिद्धान्त एवं उसके प्रवर्त्तक आचार्य 'सहृदय' की प्राचीनता को सिद्ध करती है।

३. इसके अतिरिक्त प्रासङ्गिकरूप से मुकुलभट्ट ने उत्प्रेक्षा अलंकार के 'साम्यरूप विवक्षायां वाच्ये वाच्यात्मभिः पदैः। अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता।' [अ० वृ० मा० पृ०३४] लक्षण को उद्धृत किया है। अलंकारशास्त्र के प्राचीन आचार्य दण्डी भामह उद्भट वामन आदि के ग्रन्थों में यह उत्प्रेक्षा लक्षण कहीं उपलब्ध नहीं हैं तथा इस प्रसङ्ग में मुकुलभट्ट न किसी अन्य आचार्य के नाम का उल्लेख भी नहीं किया है, जो कि उनकी प्रकृति है, जिसे हम भर्तृमित्र एवं 'सहृदय' आदि नामोंके उल्लेख में पाते हैं। अतः यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि मुकुलभट्ट ने किसी अलंकार ग्रंथ की

---

१. विशेष विवरण के लिए हमारे सम्पादित बौद्धालंकार शास्त्र की भूमिका देखिये।

भी रचना की थी एवं उसमें उत्प्रेक्षा अलंकार का विवरण देते हुए उपर्युक्त लक्षण दिया था। किन्तु वह ग्रंथ आज तक संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसन्धाताओं को सुलभ न हो सका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुकुलभट्ट शब्दव्यापार के क्षेत्र के साथ ही काव्यशास्त्र के इतिहास के क्षेत्र में भी हमारा पर्याप्त मार्गदर्शन करते हैं। इनके द्वारा निर्दिष्ट सूत्रों की सहायता से काव्यशास्त्र के इतिहास के क्षेत्र में पर्याप्त अनुसन्धान की अपेक्षा है और यह तभी सम्भव है, जब इनके इस ग्रन्थ का व्यापक रूप से अध्ययन किया जाए।

॥ इति ॥

अभिधावृत्तमातृका-कारिकाः

शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता ।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते ॥ १ ॥

तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः ।
शुद्धोपचारमिश्रत्वाल्लक्षणा द्विविधा मता ॥ २ ॥

उपादानाल्लक्षणाच्च शुद्धा सा द्विविधोदिता ।
स्वसिद्धयर्थतयाऽऽक्षेपो यच्च वस्त्वन्तरस्य तत् ॥ ३ ॥

उपादानं लक्षणं तु तद्विपर्यासतो मतम् ।
आरोपाध्यवसानाभ्यां शुद्धगौणोपचारयोः ॥ ४ ॥

प्रत्येकं भिद्यमानत्वादुपचारश्चतुर्विधः ।
तटस्थे लक्षणा शुद्धा स्यादारोपस्त्वदूरगे ॥ ५ ॥

निगीर्णेऽध्यवसानं तु रूढ्यासन्नतरत्वतः ।
वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदावधारणात् ॥ ६ ॥

लक्षणा षट्प्रकारैषा विवेक्तव्या मनीषिभिः ।
अन्वयेऽभिहितानां सा वाच्यत्वादूर्ध्वमिष्यते ॥ ७ ॥

अन्वितानां तु वाच्यत्वे वाच्यत्वस्य पुरःस्थिता ।
द्वये द्वयमखण्डे तु वाक्यार्थे परमार्थता ॥ ८ ॥

नास्त्यसौ कल्पितेऽर्थे तु पूर्ववत् प्रविभिद्यते ।
मुख्यार्थासंभवात् सेयं मुख्यार्थासत्तिहेतुका ॥ ९ ॥

रूढेः प्रयोजनाद्वापि व्यवहारेऽवलोक्यते ।
सादृश्ये वैपरीत्ये च वाच्यस्यातितिरस्क्रिया ॥ १० ॥

विवक्षा चाविवक्षा च सम्बन्धसमवाययोः ।
उपादाने विवक्षाथ लक्षणे त्वविवक्षितम् ॥ ११॥

तिरस्क्रिया क्रियायोगे क्वचित्तद्विपरीतता ।
विवर्त्तमानं वाक्तत्त्वं दशधैव विलोक्यते ॥ १२ ॥

संहृतक्रमभेदे तु तस्मिंस्तेषां कुतो गतिः ।
इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम् ॥ १३ ॥

पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत्प्रतिबिम्बितम् ।
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति ॥ १४॥

भट्ट कल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता ।
सूरिप्रबोधनायेयमभिधावृत्तमातृका ॥ १५ ॥

इति श्रीभट्टकल्लटात्मजमुकुलभट्टविरचिताः अभिधावृत्तमातृका-कारिकाः समाप्ताः ।

—०—

श्रीः

काश्मीरकश्रीमुकुलभट्टविरचिता

अभिधावृत्तमातृका

इह खलु भोगापवर्गसाधनभूतानां तद्विपर्ययपरिवर्जनप्रयोजनानां च पदार्थानां निश्चयमन्तरेण व्यवहारोपारोहिता नोपपद्यते। तथाहि—सर्वाणि प्रमाणानि प्रमेयावगतिनिबन्धनभूतानि निश्चयपर्यवसायितया प्राधान्यं भजन्ते। प्रमाणनिबन्धना च भोगापवर्गसाधनभूतानां तद्विपर्ययपरिवर्जन-प्रयोजनानां च पदार्थानामवगतिः। अतो निश्चय एव तेषां पदार्थानां व्यवहारोपारोहनिबन्धनम्। निश्चयश्च शब्दसंभेदेनार्थं गोचरीकरोति। शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधाव्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वमिति मुख्यलाक्षणिकयोरभिधाव्यापारयोरत्र विवेकः क्रियते।

(वृ०) इस संसार में भोग और अपवर्ग के साधन भूत पदार्थों का अथवा उसके विरोधी (कार्यों) के परित्याग योग्य पदार्थों का निश्चय हुए विना (अर्थात् निश्चया-त्मक ज्ञान के विना) उनके प्रति यथोचित व्यवहार (प्रयोग अथवा परित्याग) सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रमेयविषयक ज्ञान के हेतुभूत प्रमाण अन्ततः निश्चयात्मक ज्ञान कराते हैं, इसीलिए उन्हें (तत्त्वचिन्तन के क्षेत्र में) प्रधानता प्रदान की जाती है। भोग और अपवर्ग के साधनभूत एवं उसके विपरीत अर्थात् भोग और अपवर्ग की प्राप्ति केलिए त्यागयोग्य पदार्थों का ज्ञान प्रमाणों से ही होता है, अतः निश्चय ही (निश्च-यात्मक ज्ञान ही) उन पदार्थों के व्यवहार (अथवा अव्यवहार) का हेतु है। तथा यह निश्चय शब्दों के माध्यम से ही प्रगट होता है, एवं शब्दों के अर्थ का ज्ञान मुख्य अथवा लाक्षणिक अभिधान व्यापार के द्वारा हुआ करता है, इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में मुख्य तथा लाक्षणिक अभिधान व्यापार के सम्बन्ध में विवेचन किया जा रहा है।[1]

---

१. आचार्य मुकुलभट्ट ने यहाँ अभिधा शब्द का प्रयोग अभिधान अर्थात् शब्द व्यापार सामान्य के लिए किया है; केवल वाचक शक्ति के लिए नहीं। स्मरणीय है कि मुकुलभट्ट से उत्तरवर्ती अभिनवगुप्त महिमभट्ट मम्मट विद्याधर विश्वनाथ अप्पयदीक्षित पंडितराज जगन्नाथ एवं आशाधरभट्ट आदि प्रायः सभी आचार्यों ने अभिधा शब्द का प्रयोग केवल शब्द की वाचक शक्ति (मुख्य व्यापार) केलिए ही किया है। उनके अनुसार अभिधा शब्द में रहने वाली वह शक्ति है, जिसके

कः पुनर्मुख्यो लाक्षणिको वाभिधाव्यापार इत्याशङ्क्य विषयोपदर्शन द्वारेण मुख्यलाक्षणिकौ शब्दव्यापारावुपवर्णयितुमाह—

शब्दव्यापारतो तस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता ।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते ।१।

मुख्य अथवा लाक्षणिक अभिधान व्यापार क्या है ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर विषय की उपस्थापना के द्वारा मुख्य और लाक्षणिक शब्द व्यापारों का परिचय देने के लिए कहते हैं :—

(का०) जिस अर्थ की प्रतीति शब्द व्यापार द्वारा होती है, उसे मुख्य अर्थ कहते हैं। और जिसकी प्रतीति अर्थ का बोध होने के अनन्तर होती हैं, वह लक्ष्यमाण अर्थ कहलाता है।

शब्द व्यापाराद् यस्यावगतिस्तस्य मुख्यत्वम् । स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते, तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते। तस्मान्मुखमिव मुख्य इति शाखादियान्तेन मुख्यशब्देनाभिधीयते। तस्योदाहरणं 'गौरनुबन्ध्य' इति। अत्र हि गोशब्दव्यापाराद् यागसाधनभूता गोत्वलक्षणा जातिरवगम्यते। अतस्तस्या मुख्यता। तदेवं शब्दव्यापारगम्यो मुख्योऽर्थः ।

शब्द व्यापार से जिस अर्थ का बोध हो वह मुख्य अर्थ है। जिस प्रकार हाथ आदि शरीर के अंगों की अपेक्षा मुख सबसे पहले दिखाई देता है, उसी प्रकार यह अर्थ प्रतीत होने वाले अन्य सभी अर्थों की अपेक्षा पहले प्रगट होता है। अतएव 'मुखम् इव (मुख के समान) इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'शाखादिभ्यो यः' (पाणिनि ५.३.१०३) सूत्र से विहित 'य' प्रत्ययान्त मुख्य शब्द के द्वारा उक्त अर्थ अभिहित होता है।

इसका उदाहरण 'गौरनुवन्ध्यः' वाक्य से दिया जा सकता है। इस वाक्य में 'गो' शब्द के प्रयोग द्वारा याग (यज्ञ) के साधन के रूप में 'गोत्व' रूप जाति अर्थ का

द्वारा शब्द के संकेतिक अर्थ का बोध होता है। शब्द की अन्य शक्तियाँ अभिधा व्यापार के अनन्तर ही अर्थ का बोध कराने में समर्थ हो पाती हैं। अतएव शब्द की इस शक्ति को अग्रिमा प्रथमा मुख्या आदि नामों से भी स्मरण किया जाता है। हमने अनुवाद में मुकुलभट्ट द्वारा सामान्य शब्द व्यापार के लिए प्रयुक्त अभिधा पद के स्थान पर 'अभिधान व्यापार' पद का प्रयोग करना उचित समझा है।

बोध होता है ।[1] अतः इस अर्थ को ही मुख्य अर्थ कहा जाता है। इस प्रकार शब्द व्यापार के द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ को मुख्य अर्थ कहते हैं।

यस्य तु शब्दव्यापारावगम्यार्थपर्यालोचनयावगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वम् । यथा पूर्वस्मिन्नेवोदाहरणे व्यक्तेः । सा हि न शब्दव्यापारादवसीयते 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायाच्छब्दस्य जातिमात्रपर्यवसितत्वात् । जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण यागसाधनभावं न प्रतिपद्यते इति शब्दप्रत्यायितजातिसामर्थ्यादत्र जातेराश्रयभूता व्यक्तिराक्षिप्यते तेनासौ लाक्षणिकी ।

एवमयं मुख्यलाक्षणिकात्मविषयोपवर्णनद्वारेण शब्दस्याभिधा व्यापारो द्विविधः प्रतिपादितो निरन्तरार्थविषयः सान्तरार्थनिष्ठश्च ।

शब्द व्यापार द्वारा अर्थ का बोध होने पर अर्थ की पर्यालोचना से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह अर्थ लाक्षणिक कहलाता है। जैसे कि पूर्व उदाहरण 'गौरनुबन्ध्यः' में व्यक्ति की प्रतीति। उसकी (व्यक्ति की) प्रतीति शब्द व्यापार द्वारा नहीं होती। क्योंकि 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिः विशेषणे' अर्थात्, विशेषणभूत अर्थ का बोध करने में अभिधा की शक्ति के क्षीण हो जाने पर वह विशेष्यरूप अर्थ का बोध नहीं करा सकती' इस स्वीकृत नियम के अनुसार शब्द में स्थित शक्ति (अभिधा शक्ति) केवल जाति रूप अर्थ का बोध कराके ही उपक्षीण (समाप्त) हो जाती है। क्योंकि जाति रूप अर्थ व्यक्ति के बिना यज्ञ का साधन नहीं बन

---

१. इस प्रसंग में विचारणीय है कि 'गो' शब्द का प्रयोग करने पर प्रतीत होने वाले गोरूप अर्थ का स्वरूप क्या होता है ? इस संदर्भ में आचार्यों के अनेक मत हैं। मीमांसकों के अनुसार गो पद का अर्थ गोजाति है। जो सभी गो व्यक्तियों में समान रूप से रहा करती है, फलतः एक बार गो पद एवं गो पदार्थ के बीच संकेत ग्रहण हो जाने पर कालान्तर में गो पद को सुनकर पहले देखे गए गो व्यक्ति से भिन्न गोव्यक्ति के विषय में भी 'यह गौ है' ऐसा बोध श्रोता को होता है। इसके विपरीत नैयायिक गो व्यक्तियों में संकेत मानता है, उसका तर्क है कि 'गौ लाओ' आदि वाक्यों को सुनने पर 'लाना' आदि क्रिया जाति में न होकर व्यक्ति आश्रित होती है, अतः व्यवहार का आश्रय व्यक्ति होने से व्यक्ति में संकेत मानना चाहिए। बौद्ध दार्शनिक अपोह में शक्ति ग्रहण स्वीकार करते हैं, एवं वैयाकरण जाति आदि उपाधियों से विशिष्ट व्यक्ति में। इस संबन्ध में पक्ष प्रतिपक्षों को उपस्थित करते हुए ग्रन्थकार ने स्वयं अग्रिम पृष्ठों में विचार किया है, जो यथा स्थान द्रष्टव्य है।

सकता; अतः शब्द की शक्ति से प्रतीत कराये गये जातिरूप अर्थ के सामर्थ्य से ही जाति की आश्रयभूत व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है। फलतः व्यक्ति की यह प्रतीति लाक्षणिकी मानी जाएगी।[1] इस प्रकार मुख्य और लाक्षणिक रूप विषय का उपवर्णन कराने के कारण शब्द का अभिधान व्यापार दो प्रकार का माना गया है। (१) अव्यवहित रूप से अर्थ की प्रतीति कराने वाला, एवं (२) (मुख्यार्थ के) व्यवधान होने पर अर्थ की प्रतीति कराने वाला।

सम्प्रति मुख्यस्याभिधाव्यापारस्य चातुर्विध्यमभिधीयते—

तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः।

तयोर्मुख्यलाक्षणिकयोरर्थयोर्मध्यान्मुख्यस्यार्थस्य चत्वारो भेदाः जात्यादिभेदात्। चतुष्टयी हि शब्दानां प्रवृत्तिर्भगवता महाभाष्यकारेणोपवर्णिता—जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चेति। तथाहि सर्वेषां शब्दानां स्वार्थाभिधानाय प्रवर्त्तमानानामुपाध्युपरञ्जितविषयविवेकत्वादुपाधिनिबन्धना प्रवृत्तिः। उपाधिश्च द्विविधः वक्तृसन्निवेशितो वस्तुधर्मश्च। कश्चित्खलु वक्त्रा तस्मिंस्तस्मिन्वस्तुन्युपाधितया सन्निवेश्यते। कश्चित्तु वस्तुधर्म एव। तत्र यो वक्त्रा यदृच्छया तत्तत्संज्ञिविषयशक्त्यभिव्यक्तिद्वारेण तस्मिंस्तस्मिन् संज्ञिनि सन्निवेश्यते स वक्तृसन्निवेशितः; यथाडित्थादीनां शब्दानामन्त्य बुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपम्। तत्खलु तां तामभिधा शक्तिमभिव्यञ्जयता वक्त्रा यदृच्छया तस्मिंस्तस्मिन्संज्ञिनि उपाधितया सन्निवेस्यते। अतस्तन्निबन्धना यदृच्छाशब्दाडित्थादयः।

अब अग्रिम पंक्तियों में मुख्य अभिधान व्यापार, जिसे अन्य आचार्य अभिधावृत्ति कहते हैं, के चार प्रकारों का वर्णन किया जा रहा है :—

---

१. निर्णय सागर प्रेस से मुद्रित पुस्तक में उपर्युक्त वाक्य का मूल संस्कृत पाठ 'नासौलाक्षणिकी' है। जिसका अर्थ होगा 'व्यक्ति की यह प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं होती'। हमने उक्त पाठ को प्रसंग के अनुसार 'तेनासौलाक्षणिकी' मान कर अर्थ किया है। क्योंकि ग्रन्थकार अभिधान व्यापार के दो भेद 'मुख्य' और 'लाक्षणिक' की चर्चा करने के उपरान्त लाक्षणिक व्यापार के उदाहरण रूप में 'व्यक्ति' अर्थ की प्रतीति को उपस्थिति करता है। फलतः लाक्षणिक व्यापार के उदाहरण के उपसंहार में 'तेनासौलाक्षणिकी' पाठ मानना ही अधिक उचित होगा। यथास्थित अर्थात् 'नासौलाक्षणिकी' पाठ मानने पर व्यक्तिरूप अर्थ की यह प्रतीति अभिधान व्यापार के अङ्गभूत एक व्यापार द्वारा हो रही है, स्वतन्त्र लक्षणा व्यापार द्वारा नहीं, अतः यह प्रतीति लाक्षणिकी नहीं है। यह अर्थ होगा।

(का०) उन दोनों (मुख्य और लाक्षणिक) भेदों में से मुख्य अर्थ जाति आदि भेद से चार प्रकार का है।

उन दोनों उपर्युक्त मुख्य और लाक्षणिक अर्थों में से मुख्य अर्थ के जाति गुण द्रव्य और क्रिया के भेद से चार भेद हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी शब्दों की प्रवृत्ति चार प्रकार की बतलाई है—(फलतः) शब्द चार प्रकार के हैं। जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द ।[1] अपने-अपने अर्थों का बोध कराने में प्रवृत्त होते हुए सभी शब्दों की प्रवृत्ति उपाधियों से युक्त (उपरञ्जित) विषय का बोध कराने के कारण उपाधिमूलक हुआ करती है। उपाधि दो प्रकार की होती है: वक्ता द्वारा आरोपित एवं वस्तु का धर्मरूप। कोई उपाधि इस प्रकार होती है कि वह वक्ता ने अपनी इच्छावश जिस किसी भी वस्तु में आरोपित कर दी है। (अर्थात् वक्ता अपनी इच्छानुसार किसी वस्तु का कोई नाम रख लेता। है इस प्रकार देवदत्तत्व आदि उपाधि का आरोप उस वस्तु में हो जाता है।) और कोई उपाधि वस्तु की धर्मरूप होती है।[2] इनमें से जो उपाधि (उपाधिरूप धर्म) स्वेच्छा पूर्वक भिन्न भिन्न संज्ञी रूप वस्तु में (संज्ञी = जिसे कोई नाम दिया जा रहा है, वह वस्तु) शब्द की बोधक शक्ति की अभिव्यक्ति के द्वारा उन-उन नामधारी पदार्थों में मान ली जाती हैं, वह उपाधि वक्ता द्वारा सन्निवेशित उपाधि है। जैसे की डित्थ आदि शब्दों का स्वरूप जिसमें वर्णों का नियत क्रम है, तथा मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति उस क्रम को जानता है। उस शब्दस्वरूप को अभिधा शक्ति की अभिव्यञ्जना करते हुए वक्ता स्वेच्छया भिन्न-भिन्न संज्ञीरूप पदार्थों में उपाधि के रूप में सन्निविष्ट करता है। जिसके फलस्वरूप (अर्थात् उस उपाधि से युक्त होने के कारण) डित्थआदि यदृच्छा शब्द हुआ करते हैं।

येषामपि च डकारादिवर्णव्यतिरिक्तसंहृतक्रमस्वरूपाभावान्न डित्थादिशब्दस्वरूपं संहृतक्रमं संज्ञिष्वध्यवस्यत इति दर्शनं तेषामपि वक्तृयदृच्छाव्यज्यमानशक्तिभेदानुसारेण काल्पनिकसमुदायरूपस्य डित्थादेः शब्दस्य तत्तत्संज्ञाभिधानाय प्रवर्त्तमानत्वाद् यदृच्छाशब्दत्वं डित्थादीनामुपपद्यत एव।

जिन आचार्यों की यह मान्यता है कि डित्थ पद में विद्यमान डकार आदि वर्णों के समूह से भिन्न वर्ण तथा इसमें विद्यमान क्रम से भिन्न क्रम में विद्यमान इन्हीं वर्णों

१. चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दाः, गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दा श्चतुर्थाः। (ऋलृक् सूत्र भाष्यम्) नवाह्निक महाभाष्य पृ० १०१, निर्णयसागर बम्बई, १९५१ संस्करण

२. तुलनीयः—उपाधिश्च द्विविधः—वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। काव्यप्रकाश (का०प्र०) पृ० ३३

का समूह डित्थ आदि शब्दों का बोधक नहीं होता [अतः अन्वयव्यतिरेक के आधार पर विशिष्ट क्रम में विद्यमान विशिष्ट वर्णों का समूह विशिष्ट अर्थ का वाचक है, नित्य शब्द समूह को अर्थ विशेष का वाचक मानने की आवश्यकता नहीं है] उनके अनुसार भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वक्ता इच्छावश किसी क्रम विशेष में प्रयुक्त वर्ण विशेष वाले काल्पनिक डित्थ आदि शब्द जो वस्तुतः केवल काल्पनिक वर्ण समुदाय मात्र हैं, संज्ञा के रूप में डित्थ आदि अर्थ का अभिधान करने में प्रवृत्त होते ही हैं, फलतः डित्थ आदि शब्दों को यदृच्छा शब्द मानना अनुचित नहीं है।

तदेवं पूर्वमुपदर्शितो यो वैयाकरणनयस्तदाश्रयेणोपाधिर्वक्तृसन्निवेशितस्वरूपाख्यो व्याख्यातः।

इस प्रकार पूर्व प्रदर्शित वैयाकरणों के मतानुसार 'उपाधि वक्ता द्वारा सन्निवेशित हुआ करती है' इसका प्रतिपादन किया गया है।

यस्य तु वस्तुधर्मत्वेनोपाधेरवस्थानं तस्यापि द्वैविध्यम् साध्यसिद्धताभेदात्। तत्र साध्योपाधिनिबन्धनाः क्रियाशब्दाः। यथा-पचतीति। सिद्धस्य तूपाधिद्वैविध्यम्-जातिगुणभेदात्। कस्यचित्खलु सिद्धस्योपाधिपदार्थस्य प्राणप्रदता यथा जातेः। नहि कश्चित्पदार्थो जातिसम्बन्धमन्तरेण स्वरूपं प्रतिलभते। यदुक्तं वाक्यपदीये—'न हि गौ स्वरूपेण गौः नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः' इति। कश्चित्पुनरुपाधिर्लब्धस्वरूपस्य वस्तुनो विशेषाधानहेतुः। यथा-शुक्लादिगुणः। नहि शुक्लादेर्गुणस्य पटादिवस्तुस्वरूप प्रतिलम्भनिबन्धनत्वम्। जातिमहिम्नैव तस्य वस्तुनः प्रतिलब्धस्वरूपत्वात्।[1] अतोऽसौ लब्धस्वरूपस्य वस्तुनो विशेषाधानहेतुः। येऽपि च नित्याः परमाणुत्वादयो गुणास्तेषामपि सर्वेषां गुणजातीयत्वादेवंप्रकारत्वमेव। तदेवं प्राणप्रदोपाधिनिबन्धनत्वं यस्य शब्दस्य स जातिशब्दः, यथा-गवादिः। यस्माल्लब्धस्वरूपस्य वस्तुनो विशेषाधानहेतुरर्थः प्रतीयते स गुणशब्दःयथा शुक्लादिः।

जो उपाधि वस्तु के धर्म के रूप में वस्तु में रहती है, उसके (उपाधि के) दो भेद हैं :–सिद्ध उपाधि एवं साध्य उपाधि। उनमें से क्रियाशब्द साध्य उपाधि वाले होते हैं। जैसे 'पचति' आदि। [पचति आदि शब्दों से जिस अर्थ का बोध होता है वह पाकरूप

---

१. तुलनीय––वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः––सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोपि द्विविधः पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च! तत्राद्यो जातिः·························द्वितीयो-गुणः। शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते।

का० प्र० पृ० ३३-३४

अर्थ प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। क्योंकि पाक के समय अधिश्रयण अर्थात् पकाने के पात्र में जल आदि के साथ चावल आदि को अग्नि पर चढ़ाने से लेकर अग्नि से उतारने तक पाक आदि पदों के वाच्य वस्तु के धर्म में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, अतः पाक आदि क्रिया को साध्य वस्तुधर्म स्वीकार किया जाता है।] सिद्ध वस्तु-धर्मरूप उपाधि जाति और गुण भेद से पुनः दो प्रकार की है। कोई सिद्ध उपाधि पदार्थ की प्राणपद उपाधि मानी जाती है, जैसे—जाति। जाति से सम्बद्ध हुए विना कोई भी वस्तु अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाती। वाक्यपदीयम् में भर्तृहरि ने कहा भी है कि 'गौ केवल स्वरूपमात्र से न गौ होती है और न गौ से भिन्न। बल्कि गोत्व से सम्बद्ध होने के कारण गौ होती है। इससे (जाति से) भिन्न कोई उपाधि ऐसी होती है, जो [जाति से युक्त अतएव] स्वरूप को प्राप्त वस्तु में वैशिष्ट्य का आधान करती है, इस उपाधि के कारण कोई वस्तु सामान्य वस्तु से भिन्न विशेष वस्तु कही जाती है। जैसे शुक्ल आदि गुण। शुक्ल आदि गुणों के कारण [सामान्य वस्त्र वस्त्रविशेष कहा जाएगा, किन्तु शुक्ल आदि गुणों के कारण वह] वस्त्र कहा जाय ऐसी बात नहीं है, जैसे कि घटत्व धर्म से युक्त होने के कारण घटपदार्थ घट (घड़ा) कहा जाता है, [अथवा गोत्व धर्म से युक्त होने कारण गौपदार्थ गौ कहा जाता है] क्योंकि किसी भी पदार्थ को जातिरूप उपाधि के कारण ही अपना स्वरूप प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं [जिसकी चर्चा उपर की पंक्तियों में की जा चुकी है]। अतएव यह (गुणरूप वस्तुधर्म) [जातिरूप वस्तु धर्म के कारण] स्वरूप को प्राप्त वस्तु में विशेषता का आधान करता है। परमाणु आदि जो नित्य वस्तु हैं, उनमें विद्यमान परमाणुत्व आदि जो गुण (विशेष धर्म) हैं, वे गुणों के सजातीय होने से गुण ही है। [इस सन्दर्भ में स्मरणीय है कि वैशेषिक दर्शन की परम्परा में पृथिवी आदि महाभूतों का सूक्ष्मतम स्वरूप अथवा कारण परमाणु है, अतः वह नित्य द्रव्य है। उसमें (परमाणु में) विद्यमान धर्म पृथिवीपरमाणुत्व आदि को गुण नहीं माना जाता। वह गुण इसलिए नहीं है, क्योंकि नित्य धर्म होने के कारण वह 'विशेष आधान' का हेतु नहीं है। वह धर्म जाति इस-लिए नही है क्योंकि वह प्रत्येक परमाणुगत भिन्न भिन्न धर्म है, एवं एक व्यक्ति निष्ठ धर्म को जाति नहीं माना जा सकता। फिर भी क्योंकि गुण सजातीय अर्थात् गुणों के

---

७. (क) व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः। किरणावली। न्यायसिद्धान्तमुक्ता-वली पृ० ७६-७८ से उद्धृत।

(ख) रूपहानिः सामान्यगर्भलक्षणव्याघातरूपा विशेषस्य जातिमत्वे (बाधकः) यद्वा रूपस्य स्वतोव्यावर्त्तकत्वस्य हानिः। दिनकरी—पृ० ७८-७९।

समान अन्य पदार्थ से भेद कराने वाला धर्म है, अतः उसे भी कभी कभी गुण कह लिया जाता है।] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जो शब्द प्राणप्रद अर्थात् स्वरूप आधायक जाति से युक्त पदार्थ से सम्बद्ध है, वह जाति शब्द है। जैसे—गो आदि। और जिस उपाधि के द्वारा स्वरूप को प्राप्त वस्तु में विशेषता का आधान होता है अर्थात् एक वस्तु सामान्य से भिन्न विशेष वस्तु कही जाती है, उसकी प्रतीति जिसके द्वारा होती है, वह गुणशब्द है। जैसे शुक्ल आदि।

ननु सर्वेषामपि गुणक्रियायदृच्छाशब्दाभिमतानां जातिनिबन्धनत्वम्। तथाहि-गुणशब्दानां तावच्छुक्लादीनां पयःशंखबलाकाद्याश्रयसमवेता ये शुक्लादिलक्षणा गुणा विभिन्नास्तत्समवेतसामान्यवाचिनः। एवं क्रियाशब्दानामपि गुडतिलतण्डुलादिद्रव्याश्रिता ये पाकादयोऽन्योन्यमन्यत्वेनावस्थिताः क्रियाविशेषाः तत्समवेतं सामान्यमेव वाच्यम्। यदृच्छाशब्दानां तु डित्थादीनां शुकसारिकामनुष्याद्युदीरितेषु भिन्नेषु डित्थादिशब्देषु समवेतं डित्थशब्दत्वादिकं सामान्यमेव यथायोगं संज्ञिष्वध्यस्तमवसेयम्। यदि चोपचयापचययोगितया डित्थादौ संज्ञिनि प्रतिकालं भिद्यमानेष्वभिद्यमानो यन्महिम्ना डित्थो डित्थ इत्येवमादिरूपत्वेनाभिन्नाकारः प्रत्ययो बाधशून्यः संजायते तैस्तथाभूतं डित्थादिशब्दावसेयवस्तुसमवेतमेव डित्थत्वादिसामान्यमेष्टव्यम्, तच्च डित्थादिशब्दैरभिधीयते। अतश्च गुणक्रियायदृच्छाशब्दानामपि जातिशब्दत्वाच्चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिर्नोपपद्यते।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न हो सकता है कि गुणशब्द क्रियाशब्द अथवा यदृच्छाशब्द के रूप में स्वीकृत शब्द के सभी प्रकारों को जाति शब्द ही क्यों न माना जाए? क्योंकि शुक्ल आदि गुणशब्द दूध शंख सारस आदि में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले जो भिन्न भिन्न शुक्ल आदि गुण हैं, उनमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शुक्लत्व जाति के वाचक हैं। इसी भाँति क्रियाशब्द भी गुड़ तिल तन्दुल (चावल) आदि द्रव्यों में रहने वाले परस्पर भिन्न रूप में स्थित पाक आदि क्रिया विशेषों में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान पाकत्व आदि जाति विशेष का ही बोध कराते हैं।

डित्थ आदि एक संज्ञी (व्यक्ति) के वाचक पदों में शुक (तोता) मैना और मनुष्य आदि द्वारा उच्चरित विविध डित्थ आदि शब्दों में रहने वाले डित्थ-शब्दत्वरूप एक सामान्य ही यथावसर विविध डित्थ शब्दों में विद्यमान है, इसलिए वहाँ भी डित्थत्व सामान्य डित्थ का वाचक होता है। [गुण एवं वाचक पदों में अभिधेय जाति है, तो यहाँ अभिधायक जाति है।] अथवा वृद्धि एवं क्षय से युक्त अतएव प्रतिक्षण भिन्न डित्थ आदि संज्ञी में जिस कारण बाधारहित अभेद प्रतीति होती है, वह वस्तु डित्थादि शब्दों के वाच्य वस्तुओं में विद्यमान डित्थत्व आदि जाति ही है, और वही डित्थ आदि पदों

का वाच्य है। [तात्पर्य यह है कि डित्थादि यदृच्छा शब्द भी मूल रूप से जातिवाचक पद ही है। क्योंकि एक व्यक्ति के रूप में प्रतीत होने वाला डित्थ आदि पदार्थ एक न होकर अनेक है। प्रति क्षण होने वाले वृद्धि एवं क्षय से युक्त होने के कारण पूर्व क्षण में विद्यमान डित्थ आदि उत्तर क्षण में विद्यमान डित्थ आदि से रूप और परिमाण में भिन्न होने के कारण कदापि एक नहीं माने जा सकते है। ये भिन्न भिन्न डित्थ आदि यदृच्छा शब्द भी उस सामान्य (जाति) के वाचक होने के कारण जातिशब्द ही कहे जाने चाहिए। इस प्रकार गुण क्रिया और यदृच्छा शब्द भी जाति शब्द ही है। अतः चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' यह कथन उपयुक्त नहीं लगता।

अत्राभिधीयते—गुणक्रियाशब्दसंज्ञिव्यक्तानामेव तत्तदुपाधिनिबन्धन-भेदजुषामेकाकारतावगतिनिबन्धनत्वम् न तु जातेरिति, भगवतो महाभाष्य-कारस्यात्राभिमतम्। यथाह्येकमेवमुखं तैलखड्गोदकादर्शादीनां प्रतिविम्बा-वर्गातनिबन्धनानां भेदान्नानाकारत्वेन प्रत्यवभासते, तथैकैव शुक्लादिव्यक्तिः देशकालावच्छिन्ना तत्तत्कारणसामग्र्यु पजनितशंखाद्याश्रयविशेषवशेन नाना-रूपतयाऽभिव्यक्तिमासादयन्ता विचित्रैव स्यादिति। अतश्च तस्याः शुक्लादि-व्यक्तेरेकत्वाज्जातेश्च भिन्नाश्रयसमवेतत्वाच्छुक्लत्वादिजात्यभावान्न शुक्लादि-शब्दानां जातिशब्दत्वम्।

उपर्युक्त आशंका के समाधान के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि गुण शब्दों एवं क्रियाशब्दों के अभिधेय व्यक्ति में परस्पर भेद होते हुए भी जो एकाकार प्रतीति होती है, उसका हेतु गुण एवं क्रियारूप उपाधियों का होना है, जाति नहीं यह महाभाष्यकार पतञ्जलि का तात्पर्य है। जैसे एक ही मुख तेल तलवार जल और शीशा आदि प्रतिविम्ब को दिखाने वाले उपकरणों के भेद से अनेक रूपों में प्रतिभा-सित होता है, उसी प्रकार एक ही शुक्ल आदि गुणव्यक्ति भिन्न-भिन्न देश और काल में विविध कारण सामग्रियों से उत्पन्न शंख आदि आश्रय विशेष के कारण विविध रूप में अभिव्यक्त होता हुआ वैचित्र्य को प्राप्त करता है। यहाँ शुक्ल आदि व्यक्ति एक ही है, तथा जाति अनेक व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहा करती है, अतः शुक्लत्व आदि जाति नहीं हो सकती। और इसी कारण शुक्ल आदि शब्द जातिशब्द नहीं कहे जा सकते।

एवं पचतीत्यादौ डित्थशब्दादौ डित्थादौ च संज्ञिनि वाच्यम्। अत्राप्येकस्या एव पाकादिक्रियाव्यक्तेः डित्थादिशब्दव्यक्तेः डित्थादेश्च संज्ञिनो यथाक्रममभिव्यञ्जकानां पाकादीनां तथा ध्वनीनां वयोऽवस्था-विशेषाणां कौमारादीनां च यो भेदस्तद्वशेन नानाविधेन रूपेणावभासमा-

त स्थितमेतच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तानां चतुष्ट्वान्मुख्यः शब्दार्थश्चतुर्विधः इति ।

'पचति' आदि क्रिया शब्दों के वाच्य पचन आदि अर्थों, डित्थ आदि शब्दों तथा डित्थ आदि अर्थों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। इनमें भी एक ही पाक आदि क्रिया व्यक्तियों डित्थ आदि शब्दव्यक्तियों एवं डित्थ आदि अर्थ व्यक्तियों के क्रमशः अभिव्यंजक पाक आदि क्रियाओं डित्थ आदि ध्वनियों तथा आयु स्थिति विशेष कौमार्य यौवन आदि के कारण डित्थ पदार्थव्यक्ति में जो भेद है, उसके कारण वे भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होते हैं। फलतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शब्द प्रवृत्ति के निमित्तभूत कारणों के चतुर्विध होने के कारण उन शब्दों का अर्थ भी चार प्रकार का कहा जाता है। [तात्पर्य यह है कि 'पचति' पद वाच्य पचन क्रिया यद्यपि अधिश्रयण आदि भेद से अनेक प्रकार की है, किन्तु पाक क्रियारूप उपाधि के कारण एक तथा जाति गुण और यदृच्छा पदवाच्य डित्थ आदि अर्थों से भिन्न सिद्ध होती है। इसीप्रकार डित्थ आदि पद यद्यपि बालक वृद्ध शुक एवं शारिकाओं द्वारा उच्चारित होकर भिन्न प्रतीत होने पर भी जिस कारण वे एक डित्थ अर्थ के वाचक समझे जा रहे हैं, वह कारण है, उनमें विद्यमान यदृच्छा शब्दरूप उपाधि। यदृच्छा शब्दों द्वारा वाच्य डित्थ आदि पदार्थ भी यद्यपि प्रतिक्षण होने वाले उपचय (वृद्धि) अपचय (क्षय) के कारण भिन्न हैं, यह कहा जा सकता है, तथापि यदृच्छाशब्दवाच्य उपाधि के कारण ही वे प्रतिक्षण भिद्यमान पदार्थ अभिन्न हैं, ऐसा स्वीकार करते हुए डित्थ आदि पदों द्वारा उनका अभिधान किया जाता है। फलतः यह कहना अनुचित नहीं है कि जाति गुण क्रिया और यदृच्छाशब्दवाच्य रूप चार प्रकार के पदार्थों के वाचक होने से शब्दों की प्रवृत्ति चार प्रकार से होती है, अथवा शब्द चार प्रकार के हैं, यह महाभाष्यकार पतञ्जलि का तात्पर्य है।]

अधुना लाक्षणिकस्य द्विभेदत्वमुपदर्शयितुमाह—

शुद्धोपचारमिश्रत्वाल्लक्षणा द्विविधा मता ॥ २ ॥

लक्षणाया द्विप्रकारत्वम् शुद्धत्वादुपचारमिश्रत्वाच्च। शुद्धा तावल्लक्षणा 'गङ्गायां घोष' इति। अत्र हि घोषं प्रति स्रोतोविशेषस्याधारता नोपपद्यत इति गङ्गाशब्दः स्वाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्य यः समीपभूतस्तटस्तं लक्षणयावगमयति।

वाचक शब्दों के प्रकार विवेचन के अनन्तर लाक्षणिक शब्द दो प्रकार हैं यह बताने के लिए लक्षणा दो प्रकार की है इसकी चर्चा अग्रिम कारिका पंक्ति में की जा रही है—

(का०) शुद्धा और उपचारमिश्रा भेद से लक्षणा दो प्रकार की मानी जाती है।

(वृ०) 'शुद्धा और उपचारमिश्रा भेदों के कारण लक्षणा के दो प्रकार हैं। इनमें से शुद्धालक्षणा 'गंगायां घोषः' वाक्य में है। यहाँ वाक्य में [अभिधा द्वारा यह अर्थ प्रतीत होता है कि गंगा पद का अर्थ जल का प्रवाहविशेष घोष पद के वाच्य अहीर ग्राम का अधिकरण है। किन्तु] जल प्रवाह में अहीर ग्राम के आधार बनने की क्षमता नहीं हो सकती, अतः [योग्यता के अभाव के कारण मुख्यार्थ में बाध उपस्थित होने से] गंगा शब्द अपने अभिधेय अर्थ जलप्रवाह विशेष से [सामीप्य सम्बन्ध के कारण सम्बद्ध] समीप में स्थित तट का बोध लक्षणा द्वारा कराता है।

उपचारमिश्रा तु यत्रवस्त्वन्तरं-वस्त्वन्तरे उपचर्यते। यथा 'गौर्वाहीक' इति। अत्र हि गोशब्दो वाहीकशब्देनानुपपद्यमानसामानाधिकरण्याद् बाधित-मुख्यार्थः सन् गोगता ये जाड्यमान्द्यादयो गुणास्तत्सदृशवाहीकगतजाड्य-मान्द्यादिगुणलक्षणाद्वारेण गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणोपेते वाहीके उपचरितः। तेनेयमुपचारमिश्रा लक्षणा। एवं शुद्धोपचारमिश्रत्वभेदेन लक्षणायां द्वैविध्यमुक्तम्।

उपचारमिश्रा लक्षणा वह है–जहां शब्द अन्य वस्तु अर्थात् वाच्य अर्थ से भिन्न अर्थ में उपचरित होता है, जैसे 'गौर्वाहीकः' वाक्य है। इस वाक्य में सास्ना पूंछ ककुद खुर और सींग से युक्त चतुष्पद प्राणी के वाचक गोपद का देश विशेष के निवासी (जाट) अर्थ के वाचक वाहीक पद के साथ सामानाधिकण्य अर्थात् एक ही विभक्ति एवं वचन में प्रयोग उप्पन्न न होने के कारण इन पदों का मुख्य अर्थ बाधित हो जाता है। फलस्वरूप [सास्ना आदि युक्त] गौ पदार्थ में विद्यमान जड़ता (मूर्खता) और मन्दता (सुस्ती) आदि गुणों [को देखकर उन गुणों] के सदृश जड़ता मन्दता आदि गुणों की लक्षणा द्वारा प्रतीति कराता है। फलतः गोगत जड़ता मन्दता आदि गुणों के सदृश जड़ता मन्दता आदि गुणों वाले वाहीक (देश विदेश के वासी पुरुष जाट) के लिए उपचार-वश प्रयुक्त होता है। इसलिए इसे उपचारमिश्रा लक्षणा कहते हैं। इस प्रकार शुद्धा और उपचारमिश्रा भेद से लक्षणा दो प्रकार की है।

इदानीं तु शुद्धाया अपि लक्षणाया द्वैविध्यं दर्शयति—

उपादानाल्लक्षणाच्च शुद्धा सा द्विविधोदिता।

येयं लक्षणा शुद्धा प्रतिपादिता सा द्विविधोक्ता। क्वचित् खल्वर्थान्तरो-पादानेन लक्षणा प्रवर्त्तते, क्वचित्वर्थान्तरलक्षणेन।

अग्रिम पंक्तियों में शुद्ध लक्षण के दो प्रकार हैं, इसकी चर्चा की जाएगी।

(का०) उपादान और लक्षण भेद से शुद्धा लक्षणा दो प्रकार की मानी गयी है।

(वृ०) पूर्व पंक्तियों में जिस शुद्धा लक्षणा का परिचय दिया गया है वह दो प्रकार की कही गयी है। क्योंकि कहीं (शुद्धा लक्षणा में) अन्य अर्थ का उपादान करते हुए और कभी अन्य अर्थ का लक्षण करते हुए लक्षणा वाक्यार्थ का बोध कराने में प्रवृत्त होती है।

किं पुनरर्थान्तरस्योपादानं किंवा तस्य लक्षणमित्याशङ्क्याह :—

स्वसिद्ध्यर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत् ॥३॥
उपादानं, लक्षणं तु तद्विपर्यासतो मतम्

यत्र स्वसिद्ध्यर्थतया वस्त्वन्तरस्याक्षेपो भवति तत्रोपादानम्। यथा-'गौरनुबन्ध्य' इति। अत्र हि गोत्वस्य यागं प्रति साधनत्वं शाब्दं व्यक्त्याक्षेपमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्सिद्ध्यर्थतया व्यक्तेराक्षेपः। यथा च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्त' इति। अत्र हि पीनत्वं दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयाऽवगम्यमानमेव कार्यत्वात्स्वसिद्ध्यर्थत्वेन कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तराकरोति। न हि पीनत्वस्य रसायनाद्युपयोगजन्यता। प्रमाणान्तरेण तदभावावसाये सत्येतस्योदाहरणत्वात्। पीनत्वस्य चात्र दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टत्वेन रसायनाद्युपयोगबाधहेतुत्वात्। अत्र च रात्रौ भुंक्ते इत्येतच्छब्दाक्षेपपूर्वकतया प्रमाणस्यापरिपूर्णस्य परिपूरणाच्छ्रुतार्थापत्तित्वं भवत्वथवा कारणस्यैव रात्रिभोजनस्याक्षेप इति सर्वथा स्वसिद्ध्यर्थत्वेनार्थान्तरस्याक्षेपपूर्वकतयाऽन्तर्भावनादुपादानत्वमुपपद्यते।

अर्थान्तर का उपादान अथवा अर्थान्तर का लक्षण क्या हैं? इस आशंका का समाधान करते हुए अग्रिम पंक्तियों में उनका परिचय दिया जा रहा है :—

(का०) जहाँ मुख्यार्थ की वाक्यार्थ में सिद्धि (संगति के लिए अथवा मुख्यार्थबाध के समाधान द्वारा वाक्यार्थ में अन्वय) के लिए अर्थान्तर (अन्य अर्थ) का आक्षेप किया जाए वहाँ उपादान एवं इससे विपरीत अर्थात् जहां वाक्यार्थ में अन्वय की सिद्धि केलिए शब्द अपने मुख्य अर्थ को अर्थान्तर के लिए समर्पित कर देता है, वह लक्षण (लक्षणलक्षणा) है।

(वृ०) जहां स्व अर्थात् मुख्यार्थ की वाक्यार्थ में अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य वस्तु (अर्थ) का आक्षेप (कल्पना द्वारा उपस्थापन) होता है, वहां उपादान लक्षणा मानी जाती है, जैसे—'गौः अनुबन्ध्यः'। यहां [गो पद का मुख्य अर्थ गोत्व जाति है, याग में विहित अनुबन्धन गोत्व जाति का सम्भव नहीं है, अतः] शाब्द प्रतीति के अनुसार व्यक्ति के आक्षेप के बिना गोत्व याग का साधन नहीं हो पाता, इसलिए इस शाब्द अन्वय की सिद्धि के लिए गो व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है। इसीप्रकार 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' (यह देवदत्त मोटा है किन्तु दिन में भोजन नहीं करता)

इस वाक्य में वर्णित पीनत्व (मोटा होना) कार्य है, जिसकी प्रतीति दिन में किये जाने वाले भोजन के अभावरूप विशेषता के साथ हो रहीं है। [जो कि संभव नहीं है, पीनत्व भोजन का कार्य है, किन्तु दिन में भोजन के अत्यन्ताभाव का कथन हो रहा है, अतः] पीनत्व कार्य [वाक्यार्थ में अपनी संगति के लिए] कारणभूत रात्रिभोजन का आक्षेप करके उसकी प्रतीति कराता है। यह पीनत्व रसायन आदि के प्रयोग से उत्पन्न नहीं है, क्योंकि प्रमाणान्तर से रसायन के प्रयोग का अभाव विदित होने पर ही उपर्युक्त वाक्य को उपादान लक्षणा (अथवा आक्षेप) का उदाहरण बनाया गया है। इस प्रकार इस वाक्य में वर्णित देवदत्त का पीनत्व (मोटापन) दिन में किये जाने वाले भोजन के अभाव से युक्त तथा रसायन आदि प्रयोग को बाधित करने वाले ज्ञानयुक्त कारणविशेष का कार्य है। किन्तु उस कारण का कथन इस वाक्य में नहीं हुआ है, अतः यह प्रमाण वाक्य अपूर्ण है, इस अपूर्ण वाक्य को 'रात्रौ भुंक्ते' (रात्रि में खाता है) इस वाक्यांश का आक्षेप करके पूर्ण बनाया जाता है। इस प्रकार यहां श्रुत अर्थापति होती है। अथवा पीनत्व कार्य के कारणभूत रात्रि भोजन का ही आक्षेप होता है, इस प्रकार स्व (वाक्यार्थ) की सिद्धि (संगति) के लिए अर्थान्तर के आक्षेप द्वारा यहां वाक्यार्थ में उसका (अन्य अर्थ का) अन्तर्भाव किया जाता है। इसलिए इसको उपादान लक्षणा का उदाहरण कहना उचित ही है।

यत्र तु पूर्वोदितोपादानरूपविपर्याससंश्रयान्न स्वार्थसिद्ध्यर्थतयार्थान्तरस्याक्षेपः अपि त्वर्थान्तरसिद्ध्यर्थत्वेन स्वार्थसमर्पणं तत्र लक्षणम् यथा पूर्वमुदाहृतं 'गंगायां घोष' इति। अत्र हि तटस्य घोषाधारतया धारणक्रियान्वितस्य गंगाशब्देन स्व समर्पणं क्रियते। अतोऽर्थान्तरभूतं तटमवगमयितुं गङ्गाशब्देन स्ववाच्यभूतः स्रोतो विशेषोऽत्रसमर्प्यते इत्यर्थान्तरसिद्ध्यर्थत्वेन स्वार्थ समर्पणम्। एवं चात्र पूर्वोदितोपादानरूपविपर्यासाल्लक्षणत्वम्।

जिन स्थलों में पूर्व कथित उपादान के विपरीत अर्थात् वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए अर्थान्तर का उपादान न करके उसके विपरीत वाक्यार्थ में अर्थान्तर के साथ अन्वय के लिए मुख्य अर्थ का ही समर्पण (त्याग) कर दिया जाता है, उसे लक्षण (लक्षणलक्षणा) कहते हैं। जैसाकि पूर्व उदाहृत 'गंगायां घोषः' वाक्य में देखा जा सकता है। इस वाक्य में घोष (अहीरों के ग्राम) के आधार होने से तट ही धारण क्रिया से अन्वित हो सकता है। अतः गंगा पद तट के लिए अपने मुख्य अर्थ प्रवाह का समर्पण कर देता है अर्थात् वह (गंगा पद) प्रवाह रूप अर्थ को पूर्णतया छोड़कर तट रूप अर्थ का (लक्षणा द्वारा) बोध कराता है। इस प्रकार अर्थान्तरभूत तट का बोध कराने के लिए गङ्गा शब्द अपने वाच्यभूत प्रवाह विशेषरूप अर्थ को समर्पित कर देता है

यही अर्थान्तर की सिद्धि के लिए स्व अर्थ का समर्पण है। इस प्रकार पूर्व वर्णित उपादान के विपरीत होने से इसे लक्षण (लक्षण-लक्षणा) कहा जाता है।

एवं शुद्धा लक्षणा द्विविधा प्रविभक्ता। इदानीमुपचारमिश्रां चतुर्भेदत्वेन निरूपयितुमाह—

आरोपाध्यवसानाभ्यां शुद्धगौणोपचारयोः ॥४॥
प्रत्येकं भिद्यमानत्वादुपचारश्चतुर्भिदः।

द्विविध उपचारः शुद्धो गौणश्च। तत्र शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयस्याभावेनोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणासंभावात्कार्यकारणभावादिसम्बन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते, यथा आयुर्घृतमिति। अत्र ह्यायुषः कारणे घृते तद्गतकार्यकारणभावाल्लक्षणापूर्वकत्वेन आयुष्ट्वं कार्यं तच्छब्दश्चेत्युभयमुपचरितम्। तस्माच्छुद्धोऽयमुपचारः।

इस प्रकार ऊपर की पंक्तियों में शुद्धा लक्षणा को दो भेदों में विभाजित किया गया है। अब अग्रिम पंक्तियों में उपचारमिश्रा लक्षणा के चार भेदों का निरूपण किया जा रहा है है :—

(का) शुद्ध और गौण उपचार के आरोप और अध्यवसान के भेद से विभक्त होने से से उपचार (लक्षणा) के चार भेद हो जाते हैं। अर्थात् उपचार सर्व प्रथम दो प्रकार का है :—शुद्ध उपचार और गौण उपचार। इन दोनों ही उपचार भेदों में आरोप और अध्यवसान भेद से दो दो भेद हो जाने के कारण उपचार के कुल चार भेद हो जाते हैं।

(वृ०) उपचार प्रथम दो प्रकार का है : शुद्ध और गौण। जिन स्थलों में मूलभूत उपमानोपमेयभाव के न होने के कारण उपमानगत गुणों के सदृश गुणों से सम्बन्ध की संभावना न होने से कार्यकारणभाव आदि सम्बन्धों के आधार पर लक्षणा द्वारा वस्तु (पदार्थ) विशेष के लिए अन्य वस्तु का उपचार (प्रयोग) किया जाता है। वह शुद्ध उपचार है। जैसे—'आयुर्घृतम्' इत्यादि। प्रस्तुत उदाहरण में आयुष्य के कारणभूत घृत के लिए, आयु और घृत के मध्य विद्यमान कार्य कारण भाव के आधार पर प्रवृत्त लक्षणा व्यापार के द्वारा आयुरूप कार्य तथा आयु शब्द दोनों उपचरित (उपचारवश प्रयुक्त) होते हैं। उपमानोपमेयभाव में रहने वाले गुणों का सम्बन्ध न होने से यहां शुद्ध उपचार माना जाता है। [स्मरणीय है कि लक्षणा के लिए अपेक्षित सम्बन्धों के वर्गीकरण के आधार पर उपचार (लक्षणा) का प्रस्तुत शुद्धउपचार और गौणउपचार रूप विभाजन किया गया है। सम्बन्ध के यहां केवल दो वर्ग माने गये हैं :—सादृश्य एवं सादृश्येतर अर्थात् कार्यकारण भाव आदि। सादृश्य

सादृश्य सम्बन्ध में क्योंकि गुण (साधारण धर्म) वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ को सम्बद्ध करने का हेतु होता है, दूसरे शब्दों में वाच्यार्थ के गुण के सदृश गुण उपचार (लक्षणा) का हेतु होते हैं, अतः उसे गौण (गुण आश्रित या गुणविषयक) उपचार कहते हैं, एवं जहां सादृश्य से भिन्न कार्यकारणभाव आदि सम्बन्धों के कारण उपचार किया जाता उसमें गुणों का सम्पर्क न होने के कारण उसे शुद्ध उपचार कहा जाता है।

गौणः पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणां पुरस्सरीकृत्योपमेये उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते। स हि गुणेभ्य आगतत्वाद्गौणशब्देनाभिधीयते। यथा गौर्वाहीक इति। अत्र हि गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसदृशजाड्यमान्द्यादियोगाद् वाहीके गोशब्दगोत्वयोरुपचारः। केचित्तुपचारे शब्दोपचारमेव मन्यन्ते नार्थोपचारम्, तदयुक्तम्। शब्दोपचारस्यार्थोपचाराविनाभावित्वात्।

गौण उपचार वहां होता होता है, जहाँ मूलभूत सम्बन्ध उपमानोपमेयभाव का आश्रय करके उपमान में विद्यमान गुणों के सदृश गुणों के सम्बन्ध के कारण लक्षणा का आश्रय लेकर उपमेय के लिए उपमान वाचक शब्द और उपमानरूप अर्थ का अध्यारोप किया जाता है। यह अध्यारोप (उपचार) गुणों के कारण आया हुआ है, अतः उसे गौण शब्द से अभिहित किया जाता है। जैसे 'गौर्वाहीकः'। इस वाक्य में गो में रहने वाली जड़ता मन्दता आदि गुणों के सदृश जड़ता मन्दता आदि से युक्त होने के कारण वाहीक (जाट) के लिए गो शब्द और गोत्व (गो अर्थ) का उपचार अर्थात् आरोप पूर्वक प्रयोग होता है। कुछ आचार्य [उद्भट आदि] केवल शब्द का उपचार मानते हैं, अर्थ का नहीं, अर्थात् वाहीक आदि के लिए केवल गो आदि शब्दों का प्रयोग होता है, गोत्व आदि का आरोप नहीं होता; किन्तु यह मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि अर्थ के उपचार (आरोप) के बिना शब्द का उपचार (आरोप) सम्भव नहीं है। इस प्रकार शुद्ध और गौण भेद से उपचार दो प्रकार का है।

स्मरणीय है कि काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी सादृश्य एवं सादृश्येतर सम्बन्धों के आधार पर लक्षणा को विभाजित किया है— भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा। गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ [का० प्र० १२]। किन्तु गौणी लक्षणा में लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध में मुकुलभट्ट एवं मम्मट में अत्यन्त मत भेद है। मुकुलभट्ट के अनुसार गौणी लक्षणा में गोशब्द से मुख्यार्थ प्रतीति के बाद तत्सहचारि गुणों के सदृश वाहीकगत गुणों की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है, किन्तु मम्मट इसे स्वीकार नहीं करते। अस्वीकृति के कारण सम्बन्ध में मम्मट यद्यपि मौन हैं, किन्तु विश्वनाथ ने उसे स्पष्ट किया है : उनका कहना है कि लक्षणा द्वारा प्रतीयमान अर्थ यदि गुणरूप है, गुणाश्रयभूत द्रव्यपदार्थ नहीं, तो प्रश्न उपस्थित होगा कि उस गुणाश्रयभूत द्रव्यपदार्थ की

प्रतीति होती है ? अथवा नहीं। यदि होती है, तो किस से ? । क्या 'गौर्वाहीक :' आदि में गोपद से अथवा गोपद से लक्षित गुणों के द्वारा ? इन में प्रथम पक्ष अर्थात् गोशब्द से वाहीकार्थ की प्रतीति होती है, इस पक्ष को इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि गोपद का वाहीक अर्थ में संकेत नहीं हैं। द्वितीय पक्ष अर्थात् गोपद द्वारा लक्षित गोगतगुणसदृश वाहीकगत गुणों के द्वारा वाहीक अर्थ की प्रतीत होती है', इसलिए स्वीकार योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि लक्षित गुणों से गुणाश्रयी द्रव्य की प्रतीति के लिए कोई व्यापार नहीं है; तथा मुखचन्द्र आदि शब्दद्वन्द्वों में प्रसादन आदि धर्मों की समानता होने पर भी वे अन्योन्य के बाधक नहीं हो पाते। यदि अविनाभाव सम्बन्ध को गुणों से तदाश्रयभूत द्रव्य की प्रतीति का हेतु माना जाए तो भी वाक्यगत पदों का अन्वय का बनना संभव न हो सकेगा। क्योंकि शाब्दी आकांक्षा की पूर्ति शब्द से ही होती है, अर्थप्रतीतिमात्र से नहीं। अन्यथा यदि यह मान लिया जाए कि वाहीकार्थ की प्रतीति गो शब्द द्वारा नहीं होती; तो 'गौर्वाहीक' आदि वाक्यों में गौः और वाहीकः पदों में सामानाधिकरण्य अर्थात् समान विभक्तिका प्रयोग संगत न हो सकेगा। [" तदप्यन्ये न मन्यन्ते । तथाहि अत्र गो शब्दाद्वाहीकार्थः प्रतीयते न वा ? आद्ये गो शब्दादेव वा ? लक्षिताद्वा गुणाद् ? अविनाभावाद् वा ? तत्र न प्रथमः; वाहीकार्थेऽस्याऽसंकेतितत्वात्; न द्वितीयः । गोगवयचन्द्रमुखादिशब्दद्वन्द्वानामवयवप्रसादादिसाम्येऽप्यन्योन्यस्यान्यतमशब्दार्थानभिधायकत्वात् । न तृतीयः अविनाभावलभ्यस्यार्थस्य शाब्देऽन्वये प्रवेशासम्भवात् । शाब्दी ह्याकांक्षा शब्देनैव पूर्यते । न द्वितीयः—यदि हि गो शब्दाद्वाहीकार्थो न प्रतीयते ? तदाह्यस्य वाहीकशब्दस्य च सामानाधिकरण्यमसमञ्जसं स्यात् । [साहित्य दर्पण पृ० ४७-४८] आचार्य मम्मट ने उपयु क्त तीनों मतों का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है :— "अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा : जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित् । स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगताः गुणा एव लक्ष्यन्ते न तु परार्थोऽभिधीयते इत्यन्ये । साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यते इत्यपरे ।" [का० प्र० पृ० ४६] मम्मट ने शब्द से किसी भी मत को यद्यपि निज मत कहकर स्वीकार नहीं किया है, किन्तु उन्होंने कुमारिलभट्टकृत [श्लोक वार्तिक से] "अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते । लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।" पद्य को उद्धृत करते हुए कारिका के अन्तिम अंश 'गुणों से युक्त अर्थ की प्रतीति होती है, अतः ऐसे स्थलों पर गौणीवृत्ति होती है' को प्रमाण मान कर गुणयुक्त पदार्थ की प्रतीति को लक्ष्यार्थ स्वीकार किया है। यद्यपि उपर्युक्त कारिका में 'लक्ष्यमाणगुणैः' पद में गुणों के विशेषण के रूप में लक्ष्यमाण शब्द का प्रयोग देखकर मुकुलभट्ट के मत लक्षणा द्वारा गोगत गुणों के सदृश वाहीकगत गुणों की प्रतीति होती है' इसका भी समर्थन किया जा सकता है।]

एवमयमुपचारः शुद्धगौणभेदेन द्विविधोऽभिहितः। तस्य च प्रत्येकं द्वैविध्यमध्यारोपाध्यवसानाभ्याम्। यत्राध्यारोप्यारोपविषययोर्भेदमनपह्नुत्यैव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते तत्रानपह्नुतस्वरूप एव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरस्याधिकस्यारोप्यमाणत्वादध्यारोपः, यथा पूर्वोक्तयोरुदाहरणयोः। 'तथाहि आयुर्घृतमित्यत्र नायुर्लक्षणकार्यान्तर्लीनतया कारणभूतस्य घृतस्य प्रतिपत्तिः, स्वरूपेणैव तस्य प्रतिपत्तेः। स्वरूपेणैव तु तस्य प्रतीयमानस्यायुःकारणत्वादायुष्ट्वं प्रतीयते। तेनात्राध्यारोपः। एवं गौर्वाहीक इत्यत्राप्युपमानोपमेयस्वरूपानपह्नवात्। तदेवं यत्रोपचर्यमाणेनोपचर्यमाणविषयस्य स्वरूपं नापह्नूयते तत्राध्यारोपः।

पूर्व पृष्ठ में शुद्ध और गौण भेद से उपचार के दो भेदों की चर्चा की जा चुकी है। उन दोनों भेदों में भी प्रत्येक में आरोप और अध्यवसान भेद से दो भेद हो जाते हैं। जहां आरोप्य [आरोप्यमाण]और आरोपविषय में प्रत्येक के वाचक पदों का वाक्य में प्रयोग अलग-अलग किया होता है और इस प्रकार उनके भेद के अपह्नव के विना ही एक पदार्थ पर अन्य पदार्थ का उपचार किया जाता है। वहां निजरूप के अपह्नव के विना ही वस्त्वन्तर (एक पदार्थ) पर अन्य, अधिक वस्तु (पदार्थ) का आरोप करने के कारण, इस भेद को अध्यारोप कहा जाता है। पूर्वोक्त 'आयुर्घृतम्' एवं 'गौर्वाहीक; उदाहरणों में अध्यारोपा लक्षणा है। क्योंकि' आयुर्घृतम्, इस वाक्य के द्वारा आयुरूप कार्यान्तर में लीन (अपह्नुत) रूप से कारणभूत घृत की प्रतीति नहीं होती, अपितु (घृत-वाचक पद का भी प्रयोग होने का कारण) कारण घृत की स्वरूप से ही प्रतीति होती है। स्वरूप से प्रतीति होते हुए भी आयुष् का कारण होने से घृत की आयु के रूप में भी प्रतीति होती है। इसलिए यहां अध्यारोप (सारोपा लक्षणा) है, यह माना जायगा। स्मरणीय है कि आलंकारिक आचार्यों ने लक्षणावृत्ति के इस प्रभेद (गौणी सारोपा) को रूपक अलंकार का बीज माना है– 'सादृश्ये निमित्ते भेदेनारोपितो यथा–गौर्वाहीकः इदं वक्ष्यमाणस्य रूपकालंकारस्य बीजम्। [काव्यानुसाशन हेमचन्द्र पृ० ४५] रुय्यक कृत रूपक अलंकार का लक्षण भी अध्यारोप के अपर्युक्त लक्षण का समानार्थी है :—'अभेद-प्राधान्ये आरोपे आरोपविषयानपह्नवे रूपकम्'। [अ० स० पृ० ४३] प्राचीन आलंकारिक उद्भटने तो रूपक अलंकार के लक्षण के लिए गुणवृत्ति को ही एक मात्र आधार स्वीकार किया था—'श्रुत्या सम्बन्धविरहाद्यत्पदेन पदान्तरम्। गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्' [का० सा० सं० १.११]

यत्र तु उपचर्यमाणविषयस्योपचर्यमाणेऽन्तर्लीनतया विवक्षितत्वात्स्वरूपापह्नवः क्रियते तत्राध्यवसानम्। तत्र शुद्धोपचारेऽध्यवसानस्योदाहरणं

पञ्चाल इति । अत्र हि पञ्चालापत्यनिवासाधिकरणत्वाज्जनपदे लक्षितलक्षणया पञ्चाल शब्दः प्रयुज्यते। पञ्चालेनापत्यानां लक्षणादपत्यैश्च स्वनिवासाधिकरणस्य जनपदस्य । न चात्रोपचर्यमाणार्थविषयस्य पचर्यमाणाद्भेदेन प्रतिपत्तिः । उपचर्यमाणार्थनिगीर्णतयैव तस्य प्रतिपत्तेः । तेनात्रोपचारत्वं रूढिमाहात्म्याद्भ्रष्टमिव लक्ष्यते । अतोऽत्राध्यवसानगर्भः शुद्धः उपचारः ।

जहां पर विषय उपचर्यमाण में अन्तलीन होकर विवक्षित हो, वहां विषय के स्वरूप का उपचर्यमाण (आरोप्यमाण) में अध्यवसान (अपह्नव) होने के कारण अध्यवसाना अथवा साध्यसाना लक्षणा कही जाती है। शुद्ध उपचार में अर्थात् सादृश्येतर-सम्बन्ध पर आश्रित उपचार में अध्यवसाना का उदाहरण 'पञ्चालाः' हो सकता है। यहां 'पञ्चाल' के पुत्रों के निवास का स्थान (अधिकरण) होने से जनपद (प्रदेश विशेष) अर्थ में पञ्चाल शब्द लक्षितलक्षणा द्वारा प्रयुक्त होता है। इस प्रकार पञ्चाल शब्द लक्षणा द्वारा पहले पञ्चाल के पुत्रों की प्रतीति कराता है, पुनः उनके अधिकरण भूत (निवासस्थानभूत) जनपद (प्रदेश) की। यहां [वाक्य योजना में देश वाचक पद का प्रयोग न होने से] अर्थात् केवल पञ्चाल पद का ही प्रयोग होने के कारण उपचार के विषय भूत जनपद एवं उपचर्यमाण पञ्चाल में भेद प्रतीति नहीं होती। यह अभेद प्रतीति तभी हो सकती है, जब उपचर्यमाण वस्तु (विषय) निगीर्ण अर्थात् अपह्नुत हो। एतदर्थ वाक्य योजना में प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए केवल लक्षक पद का ही प्रयोग होता है, वाचक पदका नहीं। फलतः रूढिवश ऐसा प्रतीत होता है, मानों उपचार (लक्षणा) का प्रयोग ही नहीं हो रहा है। इस प्रकार पञ्चालाः आदि प्रयोगों में अध्यवसान गर्भ शुद्ध उपचार (साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा) है।

गौणोपचारे त्वध्यवसानस्योदाहरणम्-राजेति । राजशब्दो ह्यत्र प्रयोगदर्शनात् क्षत्रिये मुख्यया वृत्त्या प्रयुक्तः सन्, अन्यत्र शूद्रादौ क्षत्रियगतजनपदपरिपालनसदृशजनपदपरिपालनयोगलक्षणपूर्वकतया गौणवृत्त्या युज्यते। न चात्र झगित्येव गौणत्वस्यावगतिः । विचारणाव्यवस्थाप्यत्वात् । तेनात्र गौणत्वं झगित्येवाप्रतीयमानत्वाद् भ्रष्टं सद्विचारणया सम्यगधिगम्यते। अतोऽत्राध्यवसानगर्भो गौण उपचारः । तदेवमुपचारश्चतुर्विधः प्रविभक्तः । एतेन चतुर्विधेनोपचारेण सह पूर्वोक्तौ द्वौ लक्षणाभेदौ संकलय्य षट् प्रकारा लक्षणा वक्तव्या ।

गौण अर्थात् सादृश्यमूलक उपचार में अध्यवसान का उदाहरण 'राजा गच्छति आदि वाक्यों में राजा पद है। प्रयोग परम्परा के अनुसार (राजा) पद मुख्य व्यापार अभिधा के द्वारा क्षत्रिय अर्थ का बोध कराता है, किन्तु वही राजा पद क्षत्रिय से भिन्न

शूद्र आदि के लिए भी, क्षत्रिय में रहने वाले जनपद के परिपालन की क्षमता आदि गुण के सदृश इसी प्रकार की क्षमता आदि गुणों के होने से, गौण व्यापार अर्थात् लक्षणा के द्वारा प्रयुक्त होता है । यहां पर लक्ष्यार्थ (गौणव्यापारगम्य अर्थ) के वाचक पद का प्रयोग न होने के कारण गौणव्यापार की अथवा गौण अर्थ के गौणता की प्रतीति के तत्काल बाद अर्थात् पद एवं पदार्थ के ज्ञान के बाद ही नहीं होती, अपितु विचारणा के अनन्तर होती है, अतः यहां गौणता प्रतीति तत्काल न होने के कारण अप्रतीत-रहती है, एवं विश्लेषण द्वारा उसका बोध होता है। इसलिए यहां अध्यवसानगर्भित गौण उपचार (साध्यवसाना गौणी लक्षणा) है। स्मरणीय है कि अतिशयोक्ति का एक प्रकार विशेष (हेमचन्द्र के अनुसार भेदाभेदव्यत्ययस्वरूपा अतिशयोक्ति, [काव्यानु०-३६८], रुय्यक के अनुसार सादृश्यमूला अतिशयोक्ति) अध्यवसानोपचार (साध्यवासना लक्षणा) का मूल स्वीकार किया जा सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'इयम् अतिशयोक्ति प्रथम भेदस्य (बीजम्) [काव्यानु० पृ० ४५] कहते हुए इस तथ्य को स्वीकार किया है। आचार्य रुय्यक ने 'अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः' यह अतिशयोक्ति का लक्षण करते हुए उक्त तथ्य की पुष्टि की हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त उपादान उपचार (लक्षणा) लक्षण उपचार शुद्ध उपचार एवं गौण उपचार (लक्षणा) इन चार भेदों में प्रतिपद वर्णित आरोप उपचार (सारोपा लक्षणा) अध्यवसान उपचार (साध्यवसाना लक्षणा) को जोड़ देने से लक्षणा के छ भेद हो जाते हैं। आचार्य मम्मट ने भी "स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् । उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥ सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा । विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा । गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा ॥ (शब्द व्यापार विचार (२-४, का०प्र०२. १०-१२) इत्यादि शब्दों में इसे ही स्वीकार किया है।

वस्तुतः प्रस्तुत सन्दर्भ में मुकुलभट्ट एवं आचार्य मम्मट दोनों से एक समान भूल हुई है। एकावलीकार विद्याधर ने भी इस भूल को दोहराया है। वस्तुतः ये लक्षणा के भेदक तीन स्वतन्त्र तत्त्व हैं, उनकी सत्ता और अभाव की स्थिति में प्रत्येक में दो दो भेद हुए हैं, अतः २×२×२ इस गणित क्रम के अनुसार कुल आठ भेद होने चाहिए। क्योंकि लक्षणा का प्रथम भेदकतत्त्व है: अर्थ। कभी कभी मुख्य अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का उपादान होता है, और कभी अन्य अर्थ के लिए मुख्यार्थ द्वारा स्वसमर्पण। द्वितीय भेदक तत्त्व है: सम्बन्ध। सम्बन्धों की संख्या अनन्त हैं, अतः उन्हें केवल दो वर्गों में रख लिया गया है—सादृश्य और सादृश्येतर। इन दोनों सम्बन्धों (सम्बन्ध वर्गों) में से अन्यतम का होना पूर्वोक्त दोनों भेदों में भी अनिवार्य है, क्योंकि सम्बन्ध के बिना उपचार (लक्षणा) का होना सम्भव ही नहीं है। अतः अर्थमूलक दो भेदों एवं सम्बन्धमूलक दोनों भेदों में योग न होकर गुणन होना

चाहिए (अर्थात् २+२=४ के स्थान पर २×२=४ मानना चाहिए)। इसके अनन्तर तृतीय भेदक तत्त्व है—लक्षणार्थ के वाचक पदका प्रयोग। अर्थात् लक्षक पद द्वारा लक्ष्य अर्थ की प्रतीति तो होती ही है, साथ ही वाचक पद द्वारा मुख्यवृत्ति से भी उसका अभिधान होना और न होना। वाचक पद का भी प्रयोग होने पर अनपह्नुत (अनिगीर्ण) प्रतीति होने पर आरोप उपचार (सारोपालक्षणा) एवं उसका (वाचक पद का) प्रयोग न होने पर अपह्नुत (निगीर्ण) प्रतीति होने पर अध्यवसान उपचार (साध्यवसाना लक्षणा) होता है। इन दो स्थितियों के रहने पर भी पूर्वोक्त चार परिस्थितियों के बिना लक्षणा (उपचार) का होना सम्भव नहीं है। अतः ये स्थितियाँ पूर्वोक्त लक्षणा (उपचार) के हेतुभूत दोनों तत्त्वों के साथ साथ ही होंगी। फलतः उन चार भेदों में दो का गुणा होने पर (४×२=८) आठ लक्षणा (उपचार) के भेद होने चाहिए, छ नहीं। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में उपर्युक्त भूल का संशोधन कर लिया है—मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये। स्यादात्मनोऽप्युपादाना देषोपादानलक्षणा। अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये। उपलक्षणहेतुत्वादेषोपादानलक्षणा ॥ आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा।..........सादृश्येतरसम्बन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि। सादृश्यात्तु मताः गौण्यस्तेन षोडश भेदिताः ॥ सा० द० २. ६—७, ९॥ मुकुलभट्ट ने लक्षणा के उपर्युक्त छ भेदों का विश्लेषण निम्नलिखित प्रकार से किया है :—

एषा च लक्षणा त्रिस्कन्धा शुद्धत्वादध्यारोपादध्यवसानाच्च। तत्र शुद्धस्कन्धस्य द्वैविध्यमुपादानलक्षणाभ्यामुक्तम्। अध्यारोपाध्यवसानस्कन्धयोरपि प्रत्येकं द्विप्रभेदता, शुद्धगौणोपचारमिश्रत्वात्। तत्रैतेषां त्रयाणां स्कन्धानां विषयविभागं प्रदर्शयितुमाह—

तटस्थे लक्षणा शुद्धा स्यादारोपस्त्वदूरगे ॥५॥
निगीर्णेऽध्यवसानं तु रूढ्यासन्नतरत्वतः।

येषा लक्षणा शुद्धा उपादानलक्षणात्मकत्वेन द्विप्रभेदा प्रतिपादिता सा लक्षकार्थानुपरक्तत्वात् तटस्थतया प्रतीयमाने लक्ष्येऽर्थे द्रष्टव्या। न हि तत्र लक्षकार्थोपरक्ततया लक्ष्यस्यार्थस्यावगतिः। तथाहि गङ्गायां घोष इत्यत्र घोषाधिकरणभूततटोपलक्षणाभिसन्धानेन गङ्गायां घोषो न वितस्तायामिति गङ्गाशब्दे प्रयुज्यमाने तटस्य स्रोतोविशेषगोपलक्षकत्वमात्रोपयुक्तत्वेनोपरागो न प्रतीयते। तटस्थत्वेनैव तस्य तटस्य प्रत्ययात्। एवमुपादानेऽपि वाच्यम्। 'यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्त' इति।

इस लक्षणा में सर्वप्रथम तीन स्कन्ध (विभाजन के आधार) हैं—क्योंकि वह शुद्धा भी हो सकती है, अध्यारोप युक्ता (सारोपा) भी और अध्यवसाना भी। ये तीनों ही [विभाजन के आधार] उसके तीन स्कन्ध हैं। उनमें से शुद्ध स्कन्ध के उपादान और लक्षण के भेद से दो प्रकार कहे गये हैं। अध्यारोप (सारोप) एवं अध्यवसान स्कन्धों में भी प्रत्येक में दो दो भेद होते है, क्योंकि उनमें शुद्ध उपचार और गौण उपचार दोनों ही भेद हो सकते हैं। अग्रिम कारिका में उक्त तीनों स्कन्धों का विषय विभाजन किया जा रहा है, कि किस लक्षणा भेद का प्रयोग किस प्रकार के अर्थ की प्रतीति के लिए किया जाता है :—

(का०) शुद्धा लक्षणा तटस्थ भाव से अर्थ प्रतीति के लिए की जाती है, [क्योंकि सादृश्य के न होने के कारण इसमें लक्षक के गुणों का सम्बन्ध नहीं हुआ करता,] अध्यारोप का प्रयोग दूरी के अभाव आदि की प्रतीति के लिए किया जाता है। किन्तु अत्यन्त निकटता आदि के द्योतन के लिए लक्षक अर्थ का निगरण करके अध्यवसान (साध्यवसाना लक्षणा) का प्रयोग किया जाता है।

(वृ०) यह पूर्वोक्त शुद्धा लक्षणा, जिसके उपादान और लक्षण भेद से दो प्रकार कहे गये हैं, लक्ष्य अर्थ की प्रतीति के समय लक्षक अर्थ से अनुपरक्त (सम्पर्क रहित) रहती है, अतः उस समय तटस्थतया प्रतीति होती है ; क्योंकि उस प्रतीति में लक्ष्य अर्थ के साथ लक्षक अर्थ उपरक्त (जुड़ा हुआ) नहीं रहता। उदाहरणार्थ—'गंगायां घोषः' (जलप्रवाह विशेष में आभीर ग्राम है) इस वाक्य में गंगापद घोष (आभीर ग्राम) के अधिकरण (आधार) के रूप में तट का उपलक्षक है, यह बोध होने पर 'गंगा में घोष है, वितस्ता (व्यासनदी) में नहीं' यह प्रतीति होती है, उस समय तट के स्थान पर गंगा पद का प्रयोग होने से गंगापद केवल स्रोतविशेषरूप विशेषता का बोध ही तट में कराता है, इस प्रकार यहां तट में गंगा अर्थ के गुणों का उपराग नहीं होता। क्योंकि प्रतीति केवल 'वह तट गंगा के किनारे स्थित है' इतनी ही होती है। यही स्थिति उपादान लक्षणा में है। यथा—'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' अर्थात् 'यह मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता' इस वाक्य में भोजन द्वारा होने वाली पीनता के कारणरूप भोजन क्रिया का दिन में अभाव, शब्दतः कथित है; क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का भाव सम्भव नहीं है, अतः कार्य की सिद्धि के लिए जिस काल में कारण का निषेध किया गया है, उससे भिन्न काल में कारण का (रात्रि में भोजन का) आक्षेप किया जाता है, इस प्रकार पीनत्व की सिद्धि के लिए पर अर्थात् रात्रि भोजन का आक्षेप होने से यहां उपादान लक्षणा है, तथा लक्षक अर्थ पीनत्व से लक्ष्य अर्थ रात्रि भोजन के उपरक्त न होने के कारण यहां भी तटस्थतया ही प्रतीति हो रही है। स्मरणीय है मुकुलभट्ट से परवर्ती

चाहिए (अर्थात् २+२=४ के स्थान पर २×२=४ मानना चाहिए)। इसके अनन्तर तृतीय भेदक तत्त्व है—लक्षणार्थ के वाचक पदका प्रयोग। अर्थात् लक्षक पद द्वारा लक्ष्य अर्थ की प्रतीति तो होती ही है, साथ ही वाचक पद द्वारा मुख्यवृत्ति से भी उसका अभिधान होना और न होना। वाचक पद का भी प्रयोग होने पर अनपह्नुत (अनिगीर्ण) प्रतीति होने पर आरोप उपचार (सारोपालक्षणा) एवं उसका (वाचक पद का) प्रयोग न होने पर अपह्नुत (निगीर्ण) प्रतीति होने पर अध्यवसान उपचार (साध्यवसाना लक्षणा) होता है। इन दो स्थितियों के रहने पर भी पूर्वोक्त चार परिस्थितियों के बिना लक्षणा (उपचार) का होना सम्भव नहीं है। अतः ये स्थितियाँ पूर्वोक्त लक्षणा (उपचार) के हेतुभूत दोनों तत्त्वों के साथ साथ ही होंगी। फलतः उन चार भेदों में दो का गुणा होने पर (४×२=८) आठ लक्षणा (उपचार) के भेद होने चाहिए, छ नहीं। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में उपर्युक्त भूल का संशोधन कर लिया है—मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये। स्यादात्मनोऽप्युपादाना देषोपादानलक्षणा। अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये। उपलक्षणहेतुत्वादेषोपादानलक्षणा॥ आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा।............सादृश्येतर—सम्बन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि। सादृश्यात्तु मताः गौण्यस्तेन षोडश भेदिताः॥ सा० द० २. ६—७, ८॥ मुकुलभट्ट ने लक्षणा के उपर्युक्त छ भेदों का विश्लेषण निम्नलिखित प्रकार से किया है :—

एषा च लक्षणा त्रिस्कन्धा शुद्धत्वादध्यारोपादध्यवसानाच्च। तत्र शुद्धस्कन्धस्य द्वैविध्यमुपादानलक्षणाभ्यामुक्तम्। अध्यारोपाध्यवसानस्कन्धयोरपि प्रत्येकं द्विप्रभेदता, शुद्धगौणोपचारमिश्रत्वात्। तत्रैतेषां त्रयाणां स्कन्धानां विषयविभागं प्रदर्शयितुमाह—

तटस्थे लक्षणा शुद्धा स्यादारोपस्त्वदूरगे ॥५॥
निगीर्णेऽध्यवसानं तु रूढ्यासन्नतरत्वतः।

येषा लक्षणा शुद्धा उपादानलक्षणात्मकत्वेन द्विप्रभेदा प्रतिपादिता सा लक्षकार्थानुपरक्तत्वात् तटस्थतया प्रतीयमाने लक्ष्येऽर्थे द्रष्टव्या। न हि तत्र लक्षकार्थोपरक्ततया लक्ष्यस्यार्थस्यावगतिः। तथाहि गङ्गायां घोष इत्यत्र घोषाधिकरणभूततटोपलक्षणाभिसन्धानेन गङ्गायां घोषो न वितस्तायामिति गङ्गाशब्दे प्रयुज्यमाने तटस्य स्रोतोविशेषणोपलक्षकत्वमात्रोपयुक्तत्वेनोपरागो न प्रतीयते। तटस्थत्वेनैव तस्य तटस्य प्रत्ययात्। एवमुपादानेऽपि वाच्यम्। 'यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्त' इति।

इस लक्षणा में सर्वप्रथम तीन स्कन्ध (विभाजन के आधार) हैं—क्योंकि वह शुद्धा भी हो सकती है, अध्यारोप युक्ता (सारोपा) भी और अध्यवसाना भी। ये तीनों ही [विभाजन के आधार] उसके तीन स्कन्ध हैं। उनमें से शुद्ध स्कन्ध के उपादान और लक्षण के भेद से दो प्रकार कहे गये हैं। अध्यारोप (सारोप) एवं अध्यवसान स्कन्धों में भी प्रत्येक में दो दो भेद होते है, क्योंकि उनमें शुद्ध उपचार और गौण उपचार दोनों ही भेद हो सकते हैं। अग्रिम कारिका में उक्त तीनों स्कन्धों का विषय विभाजन किया जा रहा है, कि किस लक्षणा भेद का प्रयोग किस प्रकार के अर्थ की प्रतीति के लिए किया जाता है :—

(का०) शुद्धा लक्षणा तटस्थ भाव से अर्थ प्रतीति के लिए की जाती है, [क्योंकि सादृश्य के न होने के कारण इसमें लक्षक के गुणों का सम्बन्ध नहीं हुआ करता,] अध्यारोप का प्रयोग दूरी के अभाव आदि की प्रतीति के लिए किया जाता है। किन्तु अत्यन्त निकटता आदि के द्योतन के लिए लक्षक अर्थ का निगरण करके अध्यवसान (साध्यवसाना लक्षणा) का प्रयोग किया जाता है।

(वृ०) यह पूर्वोक्त शुद्धा लक्षणा, जिसके उपादान और लक्षण भेद से दो प्रकार कहे गये हैं, लक्ष्य अर्थ की प्रतीति के समय लक्षक अर्थ से अनुपरक्त (सम्पर्क रहित) रहती है, अतः उस समय तटस्थतया प्रतीति होती है; क्योंकि उस प्रतीति में लक्ष्य अर्थ के साथ लक्षक अर्थ उपरक्त (जुड़ा हुआ) नहीं रहता। उदाहरणार्थ—'गंगायां घोषः' (जलप्रवाह विशेष में आभीर ग्राम है) इस वाक्य में गंगापद घोष (आभीर ग्राम) के अधिकरण (आधार) के रूप में तट का उपलक्षक है, यह बोध होने पर 'गंगा में घोष है, वितस्ता (व्यासनदी) में नहीं' यह प्रतीति होती है, उस समय तट के स्थान पर गंगा पद का प्रयोग होने से गंगापद केवल स्रोतविशेषरूप विशेषता का बोध ही तट में कराता है, इस प्रकार यहां तट में गंगा अर्थ के गुणों का उपराग नहीं होता। क्योंकि प्रतीति केवल 'वह तट गंगा के किनारे स्थित है' इतनी ही होती है। यही स्थिति उपादान लक्षणा में है। यथा—'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' अर्थात् 'यह मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता' इस वाक्य में भोजन द्वारा होने वाली पीनता के कारणरूप भोजन क्रिया का दिन में अभाव, शब्दतः कथित है; क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का भाव सम्भव नहीं है, अतः कार्य की सिद्धि के लिए जिस काल में कारण का निषेध किया गया है, उससे भिन्न काल में कारण का (रात्रि में भोजन का) आक्षेप किया जाता है, इस प्रकार पीनत्व की सिद्धि के लिए पर अर्थात् रात्रि भोजन का आक्षेप होने से यहां उपादान लक्षणा है, तथा लक्षक अर्थ पीनत्व से लक्ष्य अर्थ रात्रि भोजन के उपरक्त न होने के कारण यहां भी तटस्थतया ही प्रतीति हो रही है। स्मरणीय है मुकुलभट्ट से परवर्ती

मम्मट आदि काव्यशास्त्रीय आचार्य 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इत्यादि स्थलों में रात्रिभोजन' की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं मानते। उनके अनुसार ऐसे स्थलों में श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थापत्ति द्वारा अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए [पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्, का० प्र०]। इन स्थलों पर लक्षणा मानना इसलिए उचित नहीं है कि लक्षणा में रूढ़ि अथवा प्रयोजन में अन्यतम का रहना अनिवार्य होता है, जब कि यहाँ दोनों में किसी की भी सम्भावना नहीं है। 'गंगायां घोष' आदि स्थलों में लक्ष्य एवं लक्षक अर्थ के बीच भेदरूप ताटस्थ्य भी आचार्य मम्मट नहीं स्वीकार करते, क्योंकि प्रयोजनरूप शीतलता एवं पावनता नामक धर्म के रहने के कारण लक्षक एवं लक्ष्य में उपरक्तता का अभाव नहीं कहा जा सकता। आचार्य मुकुलभट्ट शीतलता पावनता आदि गंगागत धर्मों की तट में सम्भावना की चर्चा नहीं करते, जिसके उत्तर में मम्मट का कहना है कि इन शीतलता आदि धर्मों की प्रतीति यदि 'गंगायां घोषः' इत्यादि द्वारा नहीं मानी जाएगी तो 'गंगायां घोषः' इस लाक्षणिक प्रयोग एवं 'गंगातटे घोषः' इस अभिधाश्रित प्रयोग में अन्तर ही क्या रहेगा ? अतः लाक्षणिक प्रयोग 'गंगायां घोषः' में तट में केवल गंगा सम्बन्ध' की प्रतीति न होकर गंगागत शीतलता पावनता आदि से युक्त तट की प्रतीति होती है, यह सिद्धान्त ही मानना उचित होगा। [अनयोर्हि लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्। तटादीनां गंगादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः। गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः। [का० प्र० पृ० ४६]

यदा तु गङ्गा शब्दाभिधेयस्य स्रोतो विशेषस्याविदूरवर्तितया तटमनपह्नुतस्वरूपं स्रोतोविशेषोपरक्ततया विवक्षितं भवति, तदा पूर्वस्मिन्नुदाहरणेऽध्यारोपो भवति। स्रोतो विशेषोपरक्तस्य तटस्य प्रतीतिः स्रोतो विशेषरूपे तटे घोष इति।

जब गंगा पद के वाच्य प्रवाहविशेष से तट की प्रतीति उसके स्वरूप का अपह्नव किये बिना ही प्रवाहविशेष से उपरक्तरूप से विवक्षित होती है, उस अवस्था में उपर्युक्त 'गंगायां घोषः' उदाहरण में ही अध्यारोप [नामक स्कन्ध] रहा करता है, अर्थात् प्रवाह विशेष से उपरक्त तट की प्रतीति होती है, फलतः प्रवाह-विशेषरूप तट पर घोष स्थित है; यह प्रतीति अध्यारोप में होती है।

यदा त्वत्यन्तमासन्नतां घोषं प्रति स्रोतो विशेषस्य प्रतिपादयितुमेतद्वाक्यं स्रोतोविशेषनिगीर्णतया तटमपह्नुत्य प्रयुज्यते गङ्गायामेव साक्षाद् घोषो न त्वन्यत्रेति तदाध्यवसानम्।

जब तट से प्रवाहविशेष (गंगा) की अत्यन्त निकटता के प्रतिपादन करने के लिए प्रवाह विशेष (गङ्गा) में तट का निगरण करते हुए तट पद का अपह्नव करके अर्थात् तट पद का प्रयोग किये विना 'गङ्गायां घोषः' वाक्य का प्रयोग होता है, उस समय 'साक्षात् गंगा में ही घोष है, अन्यत्र नहीं' इस प्रकार का बोध होता है, वहाँ अध्यवसान होता है।

इस प्रकार 'गंगायां घोषः' यह एक वाक्य ही अर्थ विशेष का बोधक होने से शुद्धोपचार अध्यारोप और अध्यवसान तीनों का उदाहरण यथावसर हो सकता है।

यथा चैतच्छुद्धोपचारनिष्ठतयाध्यारोपाध्यवसानयोरुदाहरणमुक्तं तथा गौणेऽप्युपचारे वाच्यम् 'गौर्वाहीक' इति 'गौरेवायं साक्षादि'ति च। अत्रापि हि यथाक्रमं गोगतगुणसदृशगुणयोगद्वारेण गोरविदूरत्वेन वाहीकस्य विवक्षितत्वात् गोत्वाध्यारोपः। गोगतानां तु गुणानामुत्कटत्वेन वाहीकस्य गोत्वाध्यवसानम्।

ऊपर की पंक्तियों में जिस प्रकार शुद्धोपचार पूर्वक अध्यारोप और अध्यवसान के उदाहरण कहे गये हैं, उसी प्रकार गौण उपचार (सादृश्यमूलक उपचार) में भी 'गौर्वाहीकः' तथा 'गौरेवाऽयं साक्षात्' उदाहरण होगा। यहाँ भी क्रमशः गौ में विद्यमान (जड़ता आदि) गुणों के सदृश गुणों से युक्त होने से वाहीक की गौ से निकटता अर्थात् वाहीक गौ सदृश है, इस विवक्षा के होने पर वाहीक पर गोत्व का अध्यारोप होता है, और जब गौ के गुणों (जड़ता आदि) की उत्कटता वाहीक में विवक्षित होती है, तब 'यह गौ ही है' प्रतीति के लिए वाहिक पर गोत्व का अध्यवसान होता है।

यथा चासन्नतरत्वेनाध्यवसानं पूर्वं प्रविभक्तं तथा रूढित्वेनापि प्रविभक्तव्यम्। तथा पूर्वोपदर्शितयोरुदाहरणयोः पञ्चाला इति तथा राजेति। तदिदमुक्तं रूढ्यासन्नतरत्वत इति। रूढित्वादासन्नतरत्वाच्च निगीर्णेऽर्थेऽध्यवसानं स्यादित्यर्थः।

जिस प्रकार आसन्नतरत्व (अत्यन्त निकटता) रूप प्रयोजन के आधार पर अध्यवसान नामक पूर्व भेद स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार रूढ़ि में भी भेद किये जा सकते हैं। पूर्व प्रदर्शित (पृ० १८ एवं २० में प्रदर्शित) भेद में 'पञ्चालाः' एवं 'राजा' उदाहरण देखे जा सकते हैं। इसीलिए कारिका में 'रूढ्याऽऽसन्नतरत्वतः' कहते हुए रूढ़ि और आसन्नतरत्व (प्रयोजन) को हेतु के रूप में स्वीकार किया गया है, अर्थात् रूढिवश अथवा आसन्नतरत्व (अत्यन्त निकटता) की प्रतीति के लिए अर्थ के निगीर्ण होने पर अध्यवसान हो सकता है।

ननु मुख्यार्थे शब्दस्य सम्बन्धावधारणात्प्रतिपादकत्वमुपपद्यते न तु लाक्षणिके, तद्विपर्ययात्। तथाहि सम्बन्धावधारणसमये व्यवहर्तृगतयोस्ताव-

च्छब्दप्रयोगार्थप्रतिपत्त्योरविभक्तोद्देशवाच्यवाक्यार्थनिष्ठतया पूर्वं हेतुफलभावावसायो भवति । तदनन्तरं त्रिचतुरादिदर्शनेभ्योऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यवाक्यार्थोद्देशप्रविभागगते ये शब्दप्रयोगार्थप्रतिपत्ती तन्निष्ठकार्यकारणभावावधारणम् । तदुत्तरकालं च व्यवहर्तृगतार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दार्थसम्बन्धावगतिः । सा च मुख्य एवार्थे जात्यादौ चतुर्विधे न तु लाक्षणिके षटप्रकारे । न हि लाक्षणिकेनार्थेन सह शब्दस्य सम्बन्धः मुख्येनैवार्थेन परिदृश्यते । तथाभावे हि सति तस्य मुख्यत्वमेव स्यान्न लाक्षणिकत्वम् । अथ शब्दस्य मुख्यो योऽसावर्थस्तेन सह सम्बन्धो लक्ष्यमाणस्यार्थस्य दृष्ट इति तद्द्वारेण शब्दात्तस्यावगतिरित्यभिधीयते, एवं सति यदि निरपेक्षः स्वार्थप्रतिपादनद्वारेण लक्ष्यमाणमर्थमवगमयति सर्वदा तमर्थमवगमयेत् । अथ सापेक्षः किं तस्यापेक्षणीयमित्याशङ्क्याह—

लक्षणा व्यापार द्वारा अर्थ प्रतीति के सन्दर्भ में एक प्रश्न उठ सकता है कि सिद्धान्ततः शब्द मुख्य अर्थ का प्रतिपादक इसलिए होता है कि मुख्य अर्थ में शब्द का सम्बन्ध ज्ञात है । लाक्षणिक अर्थ में उसका सम्बन्ध ज्ञात नहीं है, अतः शब्द लाक्षणिक अर्थ का प्रतिपादक नहीं है । क्योंकि शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध ज्ञान के लिए सम्बन्ध में तीन सोपान हैं-(१) सर्व प्रथम व्यक्ति को शब्द के दो व्यवहर्ताओं अर्थात् वक्ता और श्रोता के शब्द व्यवहार को सुनकर शब्द प्रयोग और अर्थज्ञान के अर्थात् विधिवाक्य एवं विधिवाक्यार्थ के बीच भेद प्रतीति (पार्थक्यज्ञान) के बिना ही कार्यकारण भाव का बोध होता है । अर्थात् उसे विधिवाक्य और विधिवाक्यार्थ का पृथक पृथक बोध नहीं होता, इसलिए इनके बीच कार्य कारणभाव का अविभक्त ज्ञान होते हुए भी कौन कारण है और कौन कार्य है; इसका ज्ञान नहीं होता । किन्तु उस ज्ञान में इतनी निश्चितता अवश्य रहती है कि वाक्य और वाक्यार्थ के बीच कार्य कारण भाव है । (२) तदनन्तर वह तीन चार बार वैसी ही स्थिति का साक्षात्कार होने पर अन्वय एवं व्यतिरेक द्वारा वाक्य एवं वाक्यार्थ में उद्देश्य विधेयभाव के प्रविभाग के बोध के लिए शब्दप्रयोग एवं अर्थबोध का तथा उनके बीच कार्यकारणभाव का अवधारण (निश्चयात्मक बोध) प्राप्त करता है । उसके बाद क्योंकि अर्थ प्रतीति शब्दार्थ सम्बन्ध के ज्ञान के बिना नहीं हो सकती, इस आधार पर वह शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करता है । यह शब्दार्थसम्बन्धज्ञान जाति आदि (जाति गुण क्रिया और यदृच्छारूप) चार प्रकार के मुख्य अर्थों में ही होता है, छ प्रकार के लाक्षणिक अर्थों में नहीं । शब्द एवं वाच्य (मुख्य) अर्थ के बीच सम्बन्ध की भांति शब्द एवं लाक्षणिक अर्थ के बीच सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ता । क्योंकि यदि लाक्षणिक अर्थ के साथ ही शब्द का उसी प्रकार सम्बन्ध हो, जैसा कि मुख्य अर्थ के साथ है, तो वह अर्थ

भी मुख्य अर्थ ही कहा जाना चाहिए, लाक्षणिक नहीं। यदि यह माना जाए कि शब्द का जो मुख्य अर्थ है, उसके साथ लक्ष्यमाण (लक्षणा द्वारा प्रतीत होने वाले) अर्थ का सम्बन्ध देखा ही जाता है, अतः मुख्यार्थ के साथ पृथक्पृथक् विद्यमान शब्द एवं लक्ष्यमाण अर्थ के सम्बन्ध के द्वारा [परम्परया सम्बन्ध से] शब्द एवं लक्ष्यमाण अर्थ के मध्य सम्बन्ध का ज्ञान होगा; तो वह भी उचित नहीं है। क्योंकि उस स्थिति में 'यदि शब्द निरपेक्ष भाव से ही निज मुख्य अर्थ के प्रतिपादन के द्वारा लक्ष्यमाण अर्थ का बोध कराता है, तो उसे सदा ही उस अर्थ की प्रतीति करानी चाहिए। यदि वह निरपेक्षरूप से नहीं, अपितु किसी अपेक्षा से लक्ष्यमाण अर्थ की प्रतीति कराता है, तो वह अपेक्षा किस प्रकार की है ? इसका समस्या का समाधान अग्रिम कारिका में निहित है :—

वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदावधारणात् ॥६॥
लक्षणा षट्प्रकारैषा विवेक्तव्या मनीषिभिः।

(वा०) मनीषी लोग उपर्युक्त छ प्रकार की लक्षणा का वक्ता वाक्य एवं वाच्य के स्वरूप भेद के निश्चय ज्ञान के साथ ही विवेचन करते हैं। अर्थात् वक्ता आदि के वैशिष्ट्य के अभाव में लक्षकपद लक्ष्यार्थ का द्योतन नहीं करा पाता।

यः परप्रतिपत्तये वाक्यमुच्चारयति स वक्ता। साकांक्षाणां पदानामेकार्थः समूहो वाक्यम्। शब्देन मुख्यं लाक्षणिकं वाभिधाव्यापारमाश्रित्य यद् गोचरीक्रियते तद् वाच्यम्। एतेषां त्रयाणां वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तभेदभिन्नानां देशकालावस्थावैलक्षण्यगतसमस्तव्यस्तभेदसंयोजितानां यः स्वभावभेदप्रपञ्चस्तत एषा षट्प्रकारा लक्षणा परामर्शकुशलैर्विवेचनीया। तथाविधवक्त्रादिसामग्र्यपेक्षयैव शब्दानां स्वार्थमवगमयतां स्वार्थद्वारेण लक्ष्यमाणार्थसम्बन्धस्य वृद्धव्यवहारेणावधारितत्वात्। एतदुक्तं भवति। न शब्दानामनवधारितलाक्षणिकार्थसम्बन्धानां लाक्षणिकमर्थं प्रति गमकत्वं, नापि च तत्र साक्षात्सम्बन्धग्रहणं, किन्तर्हि वक्त्रादिसमग्र्यपेक्षया स्वार्थव्यवधानेति। यदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना—'कथं पुनः परशब्दः परत्रवर्त्तते ? स्वार्थाभिधानेनेतिब्रूमः'' इति। अत्र हि स्वार्थद्वारेण लक्ष्यमाणार्थाभिनिवेशिता शब्दानामुक्ता। पुनश्चासावेवाह—'लक्षणापि हि लौकिक्येव'' इति। अत्र हि सम्बन्धावधारणसापेक्षाणां शब्दानां लक्ष्यमाणेऽर्थे प्रवृत्तिरुक्ता। व्यवहारोपारूढानि हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि लोकशब्देनाभिधायन्ते। लोके एव विदिता लौकिकी व्यवहारावगम्या। परिगृहीतसम्बन्धशब्दनिष्ठेत्यर्थः। तदुक्तं भट्टकुमारिलेन 'निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्। क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तितः।' इति। तत्र निरूढाः लक्षणाः राजेत्यादिकाः। साम्प्रतं

क्रियन्ते या वृद्धव्यवहारवक्त्राद्यपेक्षया तथाविधेऽन्यत्र विषये परिदृष्टस्वभावाः।

(वृ०) जो दूसरे को अर्थ का बोध कराने के लिए वाक्य का उच्चारण करता है, वह वक्ता कहलाता है। साकांक्ष पदों के एकार्थक समूह को वाक्य कहते हैं। शब्द द्वारा मुख्य अथवा लाक्षणिक अभिधान व्यापार का आश्रय कर जो अर्थ प्रगट होता है, उसे वाच्य कहते हैं। इन वक्ता वाक्य अथवा वाच्य में से अन्यतम (एक) के वैशिष्ट्य के आश्रयण से अथवा किन्हीं दो अथवा तीनों के वैशिष्ट्य के आधार पर अथवा देशकाल एवं अवस्था में से किसी एक, किन्हीं दो, अथवा तीनों के वैलक्षण्य की योजना से उत्पन्न अर्थ के स्वाभाविक भेद से उपर्युक्त छ प्रकार की लक्षणा के अनेक भेद हो सकते हैं; एवं इन वक्ता आदि सामग्री की अपेक्षा करते हुए ही शब्दों के निज संकेतित अर्थ को प्रगट करते हुए मुख्यार्थ के द्योतन के साथ ही लक्ष्यमाण अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है; ऐसी आचार्यों (वृद्धजनों) की मान्यता है। तात्पर्य यह है कि शब्द लाक्षणिक अर्थ के साथ सम्बन्ध की अवधारणा के बिना लाक्षणिक अर्थ का बोध नहीं कराते; और न ही उनका लाक्षणिक अर्थ के साथ साक्षात्सम्बन्ध का ज्ञान होता है; अपितु शब्द का वक्ता आदि सामग्री की अपेक्षा से मुख्य अर्थ के व्यवधानपूर्वक अर्थ के साथ शब्द के सम्बन्ध का ग्रहण होता है। [इस सम्बन्ध के आधार पर ही शब्द द्वारा लक्ष्य अर्थ का बोध हुआ करता है।] मीमांसादर्शन के भाष्यकार आचार्य शबर स्वामी ने कहा भी है :—

"एक शब्द अन्य अर्थात् असंकेतिक अर्थ का बोध किस प्रकार कराता है? तो हमारी ओर से उसका उत्तर है 'स्वार्थ के अभिधान के द्वारा'। यहां आचार्य शबर स्वामी का अभिमत यह है कि शब्द अपने मुख्य अर्थ का बोध कराते हुए लक्ष्यमाण अर्थ का बोध कराते हैं। एक अन्यस्थल पर भी उनका कहना है कि 'लक्षणा व्यापार भी लौकिक व्यवहार के अनुसार ही अर्थों का बोध कराता है, उनका यहां तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध निश्चय के ज्ञान के आधार पर ही शब्द लक्ष्यमाण अर्थ का बोध कराते हैं। यहां 'लोक' शब्द का तात्पर्य व्यवहार में आने वाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से है। इस प्रकार 'लक्षणाऽपि हि लौकिकी एव' का तात्पर्य यह होगा कि जो लोक ही में विदित हो अर्थात् लौकिक व्यवहार से जिसके सम्बन्ध का ज्ञान हो। तात्पर्य यह है कि लक्षणा का शब्दविषयक सम्बन्ध निश्चित रूप से परिगृहीत रहा करता है। आचार्य कुमारिलभट्ट ने भी कहा है :—'लक्षणा' का एक प्रकार निरूढा है, जिसमें लक्षक पद और लक्ष्य अर्थ का सामर्थ्य उसी प्रकार विदित रहता है, जिस प्रकार अभिधेय (मुख्य) अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध सुविदित होता है। लक्षणा के दूसरे प्रकार में उक्त सम्बन्ध पूर्व विदित नहीं रहता, किन्तु वृद्धव्यवहार अथवा

वक्ता आदि के वैशिष्ट्य के ज्ञान के आधार पर विदित अर्थ से भिन्न अर्थ के द्योतन के लिए लक्षणा का प्रयोग हुआ करता है ।

यथा—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका: घना:
वाता: शीकरिण: पयोदसुहृदामानन्दकेका: कला: ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव ॥इति॥

यथा—'स्निग्ध श्यामल' आदि। 'भले ही उड़ती हुई बगुलों की पंक्तियों से युक्त सरस और श्यामल आभा से युक्त मेघ आकाश को लीप (आच्छादित कर) रहे हों, फुहारों भरी हवाएं बह रही हों, मेघों के मित्र (मयूरों) की आनन्दपूर्ण केकाध्वनि (दिगन्त को मुखरित कर रही) हो, किन्तु मैं तो अत्यन्त कठोर हृदय वाला राम हूँ, सब कुछ सह रहा हूँ; परन्तु हाय ! हाय ! सीता का क्या हाल हो रहा होगा ! हा ! देवि ! (सीते !) तुम धीरज धरो ।'

अत्र हि लिप्तशब्द: कान्ते: कुङ्कुमादिवल्लेपनसाधनत्वाभावाद्बाधितमुख्यार्थ: । अतस्तेन स्वार्थगतो योऽसावाषत्तिरोधीयमानत्वादिधर्म: प्रतिपादित: तत्सदृशेषत्तिरोधीयमानत्वादिधर्मयोगात् कान्तिसम्पृक्तोऽर्थो लक्ष्यते । एवं सुहृच्छब्देनापि पयोदामचेतनत्वेन मैत्रीसम्बन्धाभावान्मुख्यशब्दार्थबाधे सति सुहृद्गता ये ते सांमुख्यादयो धर्मास्तत्सदृशसांमुख्यादिधर्मयोगिन: पयोदाभिमुखा मयूरा लक्ष्यन्ते । रामशब्दस्यापि प्रतिपन्नत्वात्संज्ञिनो मुख्यशब्दार्थबाध: । अतस्तेनापि राज्यभ्रंशवनवाससीतापनयनपितृमरणादय: स्वाभिधेयभूतार्थैकगामिनोऽसाधारणदु:खहेतवो धर्मा विशिष्टसामग्र्यनुप्रविष्टेन लक्षिता: ।

प्रस्तुत पद्य में कान्ति कुङ्कुम आदि के समान लेपन का साधन नहीं हो सकती, अत: 'लिप्त' पद का मुख्य अर्थ वाक्य में बाधित (असङ्गत) हो जाता है । अत: उसके द्वारा लिप्त (लिपे हुए) अर्थ में विद्यमान 'कुछ छिपने (तिरोधीयमानता) आदि का जो धर्म कथित हो रहा है, उसके सदृश कुछ छिपने (तिरोधीयमानता) आदि धर्मों के सम्बन्ध के कारण 'कान्ति से सम्पृक्त' इस अर्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है । इसी प्रकार की स्थिति सुहृत् शब्द में भी है। यहां भी क्योंकि बादल अचेतन हैं, अत: उनमें मैत्रीभाव का होना सम्भव नहीं है, फलत: सुहृत् शब्द का मुख्य अर्थ बाधित होता है, जिसके फलस्वरूप सुहृत् में रहने वाले सांमुख्य आदि धर्मों के सदृश सांमुख्य आदि धर्मों से युक्त मयूर अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है। राम शब्द का भी अर्थ संज्ञी राम के स्वयं ही वक्ता होने के कारण सुविदित होने से

बाधित हो रहा है । फलतः राम पद के अर्थ राम व्यक्ति में विद्यमान राज्यभ्रंश, वनवास, सीता का अपहरण, पिता की मृत्यु आदि असाधारण दुःखों के सहिष्णु धर्म रूप विशिष्ट सामग्री से युक्त राम व्यक्ति का लक्षणा द्वारा बोध होता है ।

तदेवमादीनां लक्षणानां साम्प्रतं क्रियमाणता । यासां तु लक्षणानां न वृद्धव्यवहारे दृष्टता, न च तस्मिन् शब्दे राजशब्दवद्दर्शनम्, नापि च तज्जातीयेषु शब्दान्तरेषु लिप्तादिशब्दवद्दर्शनम् (तासामशक्यत्वादक्रियमाणत्वमेव)।

इस प्रकार जिस लक्षणा के प्रयोग रुढ़, अर्थात् पूर्वकाल से सुविदित हैं, उस प्रकार की लक्षणा सम्प्रति स्वीकार्य हैं, ऐसा कहा जा सकता है, जिन लक्षणाओं का प्रयोग न तो वृद्ध व्यवहार में प्रचलित है और न 'राजा' आदि शब्दों की भांति रूढ़िगत प्रयोग ही जन सामान्य में प्रचलित हैं, और न ही लिप्त आदि शब्दों की भांति तत्जातीय अर्थात् तत्सदृश अर्थ हुआ करता है, उनका प्रयोग किया जाना सम्भव नहीं हैं । अतः ऐसे लाक्षणिक प्रयोग नहीं किये जाते ।

यथा—

मध्ये समुद्रं ककुभः पिशङ्गी र्या कुर्वती काञ्चनभूमिभासा ।
तुरङ्गकान्ताननहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्लास ॥

यथा—'मध्ये समुद्रम्' इत्यादि, अर्थात् जो बडवानल की लपट की भांति स्वर्ण भूमि की कान्ति से दिशाओं को पीतिमा युक्त करती हुई समुद्र के मध्य में जल को फाड़कर निकलती हुई-सी सुशोभित हो रही थी ।

अत्र हि तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह शब्दो बडवामुखाग्नौ लक्षणया प्रयुक्तः न चासौ बडवामुखाग्नौ निरूढो नापि च तज्जातीयः शब्दो विशिष्टसामग्र्यनुप्रविष्टतया विद्धाविद्धार्थावगाहित्वेन परिदृष्टः ।

प्रस्तुत पद्य में 'तुरङ्गकान्तानन हव्यवाह' [घोड़े की पत्नी (वड़वा) के मुख की अग्नि] शब्द बडवामुखाग्नि (समुद्र में प्रज्वलित रहने वाली अग्नि) के लिए लक्षणा द्वारा माघ कवि द्वारा प्रयोग किया जा रहा है । किन्तु यह शब्द (तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह शब्द) बडवामुखानल के लिए न तो रूढि (परम्परा में प्रयुक्त) है और न यह शब्द ऐसे अर्थ का वाचक है, जिसमें लक्ष्यार्थ में विद्यमान गुण के सजातीय गुण रहते हों, जिसके फलस्वरूप वह भी उन गुणों से कभी विद्ध (सम्पृक्त) रूप से एवं कभी कभी अविद्ध (असम्पृक्त) रूप से प्रतीत होता हो; अतः ऐसे स्थलों में लक्षणा का होना सम्भव नहीं है ।

ननु द्विरेफादीनां शब्दानां रेफद्वितयानुगतभ्रमरादिशब्दलक्षणाद्वारेण यथा षट्पदादौ प्रवृत्तिस्तथा तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह शब्दस्यापि बडवामुखाग्नौ बडवादिशब्दलक्षणाद्वारेण कथं प्रवृत्तिर्न स्यात्। तज्जातीये द्विरेफादौ शब्दलक्षणायाः परिदृष्टत्वात्। नैतत्। यतो वृद्धव्यवहाराभ्यनुज्ञातेष्वेव शब्देषु तज्जातीयशब्ददर्शनाल्लक्षणात्वमभ्युपगम्यते, न तु सर्वत्र। अन्यथा सर्वेषामेव शब्दानां येन केनचित्सजातीयांशेन सर्वानर्थान्प्रति लक्षणाशब्दत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात्। न कश्चिच्छब्दः कंचिदर्थं प्रत्यगमकः स्यात्। वृद्धव्यवहाराभ्यनुज्ञानानभ्यनुज्ञानाभ्यां तु विषयविभागेऽङ्गीक्रियमाणे तुरङ्गकान्ताननहव्यवाहेत्यादीनामसति प्रयोजने दुष्टत्वमेव, सति तु गुप्तार्थप्रतिपादनादिप्रयोजनसम्भवे एवं विधानामपि लक्षणानामदुष्टत्वम्। तथाविधविषये वृद्धव्यहारेण तासामभ्यनुज्ञातत्वात्। तदेवं वक्त्रादिसामग्र्यनुप्रवेशेन शब्दानां स्वार्थमपर्यतामर्थान्तरं प्रति वृद्धव्यवहारे स्वरूपद्वारेण सजातीयशब्दद्वारेण वा गमकतयावधारितानां लक्षकत्वमिति स्थितम्।

प्रस्तुत सन्दर्भ में यह आशंका हो सकती है कि जिस प्रकार 'द्विरेफ' आदि शब्द दो रेफों से युक्त भ्रमर आदि शब्दों की लक्षणा द्वारा प्रतीति कराते हुए षट्पद (भौंरा) आदि अर्थ का बोध कराते हैं, उसी प्रकार 'तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह' आदि शब्द भी बडवा आदि शब्द की लक्षणा द्वारा प्रतीति कराते हुए बडवा पदवाच्य समुद्र की अग्नि का बोधक क्यों न माना जाए? क्योंकि इसीप्रकार के द्विरेफ आदि शब्दों में शब्दलक्षणा का प्रयोग साहित्य में देखा जाता है। किन्तु यह आशंका युक्ति युक्त नहीं है। क्योंकि लक्षणा व्यापार उन्हीं शब्दों में माना जाता है, जहां उस प्रकार के प्रयोगों को वृद्धव्यवहार में स्वीकार किया गया हो, तथा शब्द के मुख्य अर्थ एवं लक्ष्यमाण अर्थ के बीच सादृश्यआदि धर्म के दर्शन हो रहे हों, सर्वत्र नहीं। अन्यथा जिस किसी शब्द के द्वारा किसी भी धर्म के सम्बन्ध से सभी अर्थों का लक्षणा द्वारा बोध कहा जा सकता है, [क्योंकि प्रत्येक मुख्य अर्थ किसी न किसी विशेषता के द्वारा प्रत्येक अन्य अर्थ से सम्बद्ध रहता ही है] ऐसी स्थिति में कोई भी शब्द किसी भी अर्थ का बोधक नहीं है, यह कहना सम्भव नहीं हो सकेगा। इस प्रकार वृद्ध व्यवहार से लाक्षणिक प्रयोग की अनुमति और अनुमति का अभाव मानने पर 'तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह' इत्यादि शब्दों का प्रयोग विशेषप्रयोजन के अभाव में दोष युक्त ही माना जायगा। यदि कदाचित् इस प्रकार के प्रयोग में किसी गुप्त अर्थ के प्रतिपादनरूप प्रयोजन की सम्भावना हो तो इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग भी दोष रहित माने जा सकते हैं, क्योंकि प्रयोजन विशेष की स्थिति में इस प्रकार के प्रयोगों की अनुज्ञा वृद्ध व्यवहार से प्राप्त है। इस प्रकार सिद्धान्त रूप से यह कहा जा सकता है कि 'वक्ता, वाक्य एवं वाच्य और

देश, काल एवं अवस्था आदि के वैशिष्ट्य से जब शब्द अपने मुख्य अर्थ को अन्य अर्थ के लिए समर्पित करते हुए वृद्धव्यवहारवश, स्वरूप बोधक अथवा सजातीय शब्द के द्वारा अन्य अर्थ के बोधक के रूप में निर्णीत हों उस स्थिति में उस पद को लक्षक कहा जायेगा।'

तत्र वक्तृनिबन्धनत्वेन यत्र लाक्षणिकार्थोऽवगम्यते, तत्रोदाहरणम्—

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद् गृहे दास्यसि
प्रायो नैव शिशोः पितास्य विरसाः कौपोरपः पास्यति।
एकाकिन्यपि यामि तद् वनमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रा वपुरालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः॥

लक्षणा के उपर्युक्त अनेक प्रकारों में वक्तृ वैशिष्ट्य के कारण जहां लाक्षणिक अर्थ की प्रतीति होती है, उसका उदाहरण निम्नलिखित है—'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि इत्यादि' हे पड़ोसिन कुछ देर मेरे घर पर भी दृष्टि रखना, क्योंकि इस बालक के पिताजी (अर्थात् मेरे पति) प्रायः कुएं का नीरस (खारी) पानी नहीं पीते। इसलिए क्या करूँ यहाँ से अकेले ही तमाम वृक्षों के समूह से ढंके हुए स्रोत (नदी) पर मैं जा रही हूँ। भले ही सघन एवं पुराने काटे हुए नल लता की गांठें मेरे शरीर को क्यों न खरोंच डालें।'

अत्र हि परपुरुषसंभोगानुभवेच्छया संकेतस्थानं युवतिर्व्रजन्ती स्वप्रवृत्तिप्रयोजनं विशिष्टसंकेतस्याधारं परपुरुषसंभोगात्मकं तथा संभोगचिह्नानि नखदशनक्षतानि गात्रसंलग्नतया शंक्यमानाविर्भावानि यथाक्रमं भर्तृपिपासानिवृत्तिक्षमनादेयसरसपानीयानयनेन चिरच्छिन्ननलग्रन्थिपरुषजर्जरप्रान्तजनिष्यमाणेन च गात्रगतविकारविशेषोद्गमेनापह्नुत्याभिधत्ते। सा चात्रापह्नुतिरसाध्व्या वक्तृत्वं पर्यालोच्यावगम्यते। अपह्नवस्य चालीकवस्त्वभिधानात्मकत्वादलीकस्य च सत्यार्थविपर्यासकारित्वादलीकेन अर्थेन त्वसत्योक्तः स्वसिद्ध्यर्थत्वेनाक्षिप्यते। तेनात्र वक्तृविशेषपर्यालोचनया सत्यार्थे निष्ठाया उपादानात्मिकायाः लक्षणायाः प्रतिपत्तिः। नह्यत्र वाक्यवाच्ययोः सामर्थ्यम्। साध्व्या वक्तृत्वे सति तयोरेवंविधार्थाक्षेपासमर्थत्वात्।

प्रस्तुत पद्य में पर पुरुष से संभोग सुख के अनुभव की कामना से संकेत स्थल पर जाती हुई युवती अपने जाने के प्रयोजन को विशिष्ट संकेत स्थल के आधार को, पर पुरुष के साथ संभोग को तथा शरीर में लगने वाले अतएव शंक्यमान नखक्षत दन्तक्षत आदि संभोग के चिह्नों को क्रमशः पति की पिपासा शान्त करने में समर्थ नदी के सरस (मधुर) जल के लाने के द्वारा, तथा पुराने काटे हुए नलों की गांठों वाले कठोर

साथ ही जर्जर प्रदेश में सम्भावित शरीरगत विकारविशेष की उत्पत्ति के कहने के द्वारा छिपाते हुए, कह रही है। वह अपह्नुति अर्थात् संकेत स्थान पर गमन को एवं संभोग चिन्हों को छिपाने की प्रतीति तभी होती है, जब यह बोध होता है कि यहाँ वक्त्री (कहने वाली) कोई कुलटा अर्थात् दुराचारिणी स्त्री है; क्योंकि अपह्नव (छिपाना) अन्य अर्थ के कथन के रूप में ही होता है एवं असत्य अर्थ सत्य अर्थ का विपरीत (विपरीतकारी) होता है, अतः असत्यकथन द्वारा मुख्यार्थ की सिद्धि के लिए अनुक्त सत्य अर्थ का आक्षेप किया जाता है। इस प्रकार यहां वक्तृविशेष के पर्यालोचन के द्वारा सत्य अर्थनिष्ठ (अर्थात् संभोगहेतु नदी के तीर पर गमन आदि अर्थ की बोधक) उपादान लक्षणा का निर्धारण होता है। प्रस्तुत पद्य में वाक्य और वाच्य में लक्षणा व्यापार बोध्य अर्थ के बोधन का सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि यदि यहीं वक्ता साध्वी पतिव्रता स्त्री हो तो उपर्युक्त प्रकार के दोनों अर्थों के आक्षेप करने की सम्भावना न हो सकेगी।

वाक्य-गत-रूपविशेषपर्यालोचनया तु यत्र लाक्षणिकार्थपरिग्रहस्तत्रोदाहरणम्—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयातः
त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥ इति।

वाक्यगतरूप वैशिष्ट्य की पर्यालोचना से प्रतीयमान लाक्षणिक अर्थ का उदाहरण निम्नलिखित पद्य में देखा जा सकता है :—

'प्राप्तश्रीरेषकस्मात्' इत्यादि। हे राजन् ! आपको अपनी ओर आया हुआ देख कर समुद्र मानों इन वितर्कों को धारण करता हुआ कम्पित होने लगता है 'इन्हें लक्ष्मी तो प्राप्त हैं, फिर क्यों पुनः मन्थन का कष्ट करेंगे। (क्योंकि जब उन्हें लक्ष्मी प्राप्त नहीं थी, तब विष्णु ने समुद्र का मन्थन किया था।) इनके मनमें आलस्य नहीं दिखाई देता, अतः मैं पहले (प्रलय काल से तुरन्त पूर्व) की भाँति निद्रा की भी कल्पना नहीं कर सकता। (क्योंकि प्रलय काल से पूर्व जब विष्णु निद्रालु होते हैं, उस समय शेषशय्या पर सोने के लिये इधर आते हैं।) समस्त द्वीप द्वीपान्तरों के स्वामी इनका अनुगमन कर रहे हैं, फिर ये पुनः सेतुबन्धन क्यों करेंगे ?' (क्योंकि लङ्का द्वीप के स्वामी रावण द्वारा विरोधिभाव अपनाने पर रामावतार में विष्णु ने समुद्र पर सेतु बन्धन किया था।)

अत्र हि चाटुश्लोकेनोपश्लोक्यते यो नृपतिस्तदीयबलभरक्षोभ्यमाण-

स्वावस्थस्य समुद्रस्य यः कम्पोऽतिशयोक्त्योपवर्णितस्तस्य समुद्रकर्तृकवितर्कधारणहेतुकत्वमत्रोत्प्रेक्षितमिति वितर्कान्दधत इवेति । ते च वितर्काः प्राप्तश्रीरित्यादिना भगवद्वासुदेवस्य व्यापारविशेषविषयाः । यावच्च तस्य नृपतेर्भगवद्वासुदेवता न समस्ति तावत्कथं तदीयेषु व्यापारविशेषेषु संशयः समुपजायते । अतोऽत्र यदेतद्बलभराक्रान्तत्वेन समुद्रस्याकम्पमानस्यापि कम्पमानार्थसादृश्यात् कम्पमानत्वमध्यवसितम्, तत्राध्यवसानगर्भगौणोपचारः ; अकम्पमानस्यापि तस्य कम्पनार्थत्वेनाध्यवसितत्वात् । अत एव चेयं भेदेऽप्यभेद इत्येवमात्मिकातिशयोक्तिः । विकल्पवशाद्यश्चेतनानां मूर्धकम्पो बाहुल्येन परिदृश्यते चेतनगतसंशयहेतुकमूर्धकम्पसादृश्यात् तद्भावोऽस्य कम्पस्योपचर्यते । एवं चात्राप्यध्यवसानगर्भो गौण उपचारः । इयमपि च विभिन्नयोरपिकम्पयोरभेदेनाध्यवसानात् भेदेप्यभेद इत्येवमात्मिकातिशयोक्तिः । तन्निबन्धनैव चेयमुत्प्रेक्षा 'इति वितर्कान्दधत इवे'ति । अत्र हि कार्यभूतकम्पदर्शनात्कारणभूतं वितर्कधारणं मिथ्याज्ञानस्वरूपयोत्प्रेक्षयोत्प्रेक्ष्यते । अत्रापि च वितर्कानधारयतोऽपि पयोधेः वितर्कधारणोपनिबन्धात् भेदेप्यभेद इत्येवमात्मिकातिशयोक्तिर्गर्भीकृता । यदुक्तमुत्प्रेक्षा लक्षणे—

साम्यरूपविवक्षायां वाच्ये वाच्यात्मभिः पदैः ।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता" ॥ इति ।

सम्भाव्यमानस्य गुणक्रियायोगात् । तेनात्राप्यध्यवसानगर्भो गौण उपचारः । प्राप्तश्रीरित्यादिषु तु त्रिषु वितर्केषु भगवद्वासुदेवविषयेषु यथायोगं तत्तत्कार्यनिराकरणहेतुगर्भतया प्रवर्त्तमानेषु नृपतेर्भगवद्वासुदेवताक्षिप्ता । तेनात्रोपादानात्मिका लक्षणा । भगद्वासुदेवरूपतया चात्र नृपतेरध्यवसानादध्यवसानगर्भो गौण उपचारः । एतच्चात्र सर्ववाक्योपात्त-पद-समन्वयान्यथानुपपत्त्यावगम्यत इति वाक्यनिबन्धनात्र लक्षणा ।

प्रस्तुत पद्य में चाटुस्तुति द्वारा जिस राजा की स्तुति की जा रही है, उस राजा के बल भार से क्षुब्ध (चंचल), वस्तुतः अपनी अवस्था के कारण ही चंचल, समुद्र में विद्यमान कम्पन का अतिशयोक्ति के माध्यम से वर्णन किया गया है, तथा उस कम्पन के हेतु के रूप में समुद्र द्वारा तीन प्रकार के विकल्पों के धारण की उत्प्रेक्षा की गयी है । मानों वह इन वितर्कों को धारण कर रहा है । राजा के सम्बन्ध में ये वितर्क तब तक सम्भव नहीं है, जब तक विष्णु के क्रिया का संशय (भ्रम) राजा में न हो, तथा विष्णु की उन क्रियाओं का राजा में भ्रम तब तक नहीं हो सकता, जब तक राजा में भगवान् विष्णु की समानता का बोध न हो । अतएव यहां "इस राजा

की सेना के भार से आक्रान्त होने के कारण कम्पमान अर्थ के सादृश्य के कारण न कांपते हुए समुद्र में भी कम्पमानत्व का अध्यवसान किया गया है। इस प्रकार यहाँ अध्यवसानगर्भगौण उपचार अर्थात् साध्यावसाना गौणी लक्षणा है, क्योंकि यहाँ न कांपते हुए समुद्र में भी कम्पनरूप अर्थ का अध्यवसान किया गया है। अतएव यहाँ अभेद में भेद रूपा अतिशयोक्ति अलंकार है। विकल्पों के कारण चेतन मनुष्यों के शिर में कम्पन प्रायः दिखाई देता है, वही कम्पन, चेतन में होने वाले संशयजन्य शिर के कम्पन के सदृश हो। कम्पन के सादृश्य कारण यह कम्पन भी वितर्क (आशंका एवं संशय के कारण है, यह उपचार (लक्षणा) के द्वारा कहा गया है। इस प्रकार यहां भी अध्यवसानगर्भ गौण उपचार है, और यह चारुत्वपूर्ण योजना में भेद अभेदरूपा भी अतिशयोक्ति है। क्योंकि यहां दो भिन्न प्रकार के कम्पन में अभेद का अध्यवसान किया जा रहा है, साथ ही यहाँ अतिशयोक्तिमूला उत्प्रेक्षा भी वितर्कान्दधत इव' अंश में है। कार्यभूत कम्पन को देखकर कारणभूत वितर्कधारण का उत्प्रेक्षण यहां मिथ्याज्ञान (भ्रान्ति) रूपी उत्प्रेक्षा के द्वारा किया जा रहा है; और यहाँ भी वितर्कों को धारण न करते हुए- समुद्र में वितर्क धारण की योजना की गयी है। फलतः इस अंश में भी भेद में अभेदरूपा अतिशयोक्ति उत्प्रेक्षा के गर्भ में विद्यमान है। जैसा कि उत्प्रेक्षा अलंकार के लक्षण में कहा गया है :—"वाचक पदों के द्वारा (वाच्यमात्मा येषां तादृशैः) वाच्य में (उपमेय में) तद्गत (सम्भाव्यमान के गुण और क्रिया का सम्बन्ध न होने पर भी यदि रूपसाम्य की विवक्षा हो तो वहाँ अतिशयोक्तिगर्भ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।" अर्थात् यदि सम्भावना के विषय में सम्भाव्यमान के गुण और क्रियाओं का सम्बन्ध न हो फिर भी सम्भाव्यमान के वाचक पदों द्वारा सम्भाव्य विषय और सम्भाव्यमान में रूपसाम्य की विवक्षा हो तो वहां अतिशयोक्ति गर्भित उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। इस कारिका के तृतीय चरण में तत्पदका अर्थ है; सम्भाव्यमान, अतः तद्गुण क्रियायोगात् का अर्थ होगा सम्भाव्यमान के गुण और क्रिया के सम्बन्ध से, तथा नञ्समास द्वारा उसके अभाव का कथन विवक्षित है। इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में अध्यवसान गर्भ गौण उपचार है। 'प्राप्त श्रीः' इत्यादि भगवान् विष्णु विषयक तीन विकल्पों में क्रमशः उन उन कार्यों के निराकरण के हेतु को गर्भस्थ करके विकल्प पूर्वक उस राजा में विष्णुत्व का आक्षेप किया गया है; इसलिए यहाँ उपादान लक्षणा है। क्योंकि राजा पर भगवान् विष्णु के रूप का अध्यवसान किया गया है; अतः यहाँ अध्यवसानगर्भ गौण उपचार अर्थात् साध्यवसानागौणी [उपादान] लक्षणा है। उपर्युक्त सभी अर्थ की प्रतीति वाक्यगत पदों के समन्वय के बिना नहीं हो पातीं, अतः इसे वाक्य वैशिष्ट्यमूला लक्षणा का उदाहरण मानना होगा। स्मरणीय कि मुकुल भट्ट ने प्रस्तुत पद्य में अतिशयोक्तिगर्भा उत्प्रेक्षा की प्रतीति लक्षणा द्वारा

मानी है, किन्तु ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने रूपकध्वनि स्वीकार की है :— 'इत्येवंविधे विषयेऽनुरणनरूपरूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थापनात् रूपकध्वनिरिति व्यपदेशो न्याय्यः ।" [पृ० ५८४–६०२] । आचार्य महिमभट्ट की भी यही मान्यता है—'..........तेन तत्कार्यत्वात्कारणभूतभगवद्रूपतारोपमेव तत्रानुमापयन्तीति रूपकानुमितिरिति व्यपदेशः प्रवर्तते [व्य. वि. पृ० ४८८] । पण्डितराज जगन्नाथ यहाँ न उत्प्रेक्षा मानते हैं, और न रूपक ध्वनि । उनके अनुसार इस पद्य में भ्रान्ति अलंकार की ध्वनि है—'..............अनाहार्यविष्णुतादात्म्यज्ञानरूपां भ्रान्तिमेवामन्ति, न रूपकम् ।....... चमत्कारिण्यपि चात्र भ्रान्तिरेवेति ध्वनिरपि तस्या एव युक्तः । [रस गंगाधर पृ० ५२७] उपर्युक्त तीनों ही अलंकारिकों ने उपर्युक्त पद्य में अर्थशक्तिमूल अलंकारध्वनि स्वीकार की है, किन्तु उसका व्यञ्जक अर्थ वाच्य या लक्ष्य है, इसका संकेत नहीं किया है; अतः मुकुलभट्टकृत लक्षणा की स्वीकृति या अस्वीकृति की चर्चा उन लोगों ने नहीं की है ।

वाच्यनिवन्धना तु यथा—

दुर्वारा मदनेषवो दिशि दिशि व्याजृम्भते माधवो
हृद्युन्मादकराः शशांकरुचयश्चेतोहराः कोकिलाः ।
उत्तुङ्गस्तनभारदुर्धरमिदं प्रत्यग्रमन्यद्वयः
सोढव्याः सखि साम्प्रतं कथममी पञ्चाग्नयो दुःसहाः ॥

इत्यत्र हि स्मरशरप्रभृतीनां पञ्चानामध्यारोपितवह्निभावानामसह्यत्वं वाक्यार्थीभूतम्, अतस्तस्य वाच्यता । तत् पर्यालोचनसामर्थ्याच्च विप्रलम्भ शृङ्गारस्याक्षेप इत्युपादानात्मिका लक्षणा वाच्यनिवन्धना । नह्यत्र वक्तृस्वभावपरिशीलनस्य शब्दरहितस्योपयोगः । नापि च वाक्ये पदानां विप्रलम्भशृङ्गाराक्षेपमन्तरेणान्वयोपपत्तिः । वाच्यस्वरूपविचारेण तत्र विप्रलम्भशृङ्गाराक्षेपादुपादानात्मिका लक्षणा वाच्यनिवन्धना । विप्रलम्भशृङ्गारस्य चाक्षिप्यमाणस्यापि वाच्यापेक्षया प्राधान्यम् । सहृदयहृदयाह्लादहेतुतया प्राधान्येनाक्षेपात् । हृद्युन्मादकरा इत्यत्र सत्यपि शशांकरुचीनां स्त्रीत्वे हेतुताच्छील्यानुलोम्यानामविवक्षितत्वात् टप्रत्ययाभावेनाच्प्रत्ययान्तत्वादीकाराभावः । पूर्वं चात्र कर्मसम्वन्धस्याविवक्षणात् अच्प्रत्ययस्याभाव इत्यप्प्रत्ययः 'शिवशमरिष्टस्यकरे' इतिवत् । अतएव हेत्वादिविवक्षायामपि टप्रत्ययाभावाददोषः ।

वाच्यवैशिष्ट्य निवन्धना लक्षणा निम्नलिखित पद्य में द्रष्टव्य है :– 'दुर्वारा मदनेषवः' इत्यादि । 'हे सखि ! इस समय मदन के (काम के) वाणों को रोक पाना कठिन हो रहा है । सब दिशाओं में माधव (मधु से उत्पन्न, वसन्त) जम्भाई ले रहा है (प्रभावशाली होता जा रहा है), हृदय में उन्माद पैदा करने वाली चन्द्रमा की

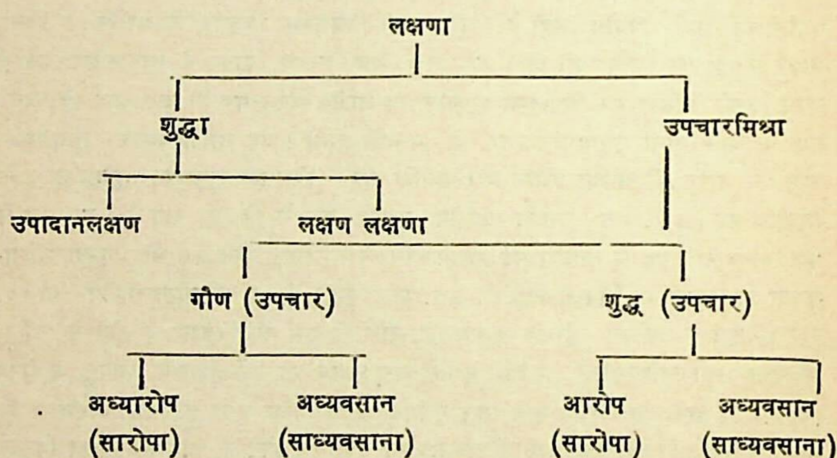
किरणें सब ओर फैल रही हैं; चित्त को हर लेने वाली कोकिल कुहुक रही है, इन उत्तुङ्ग स्तनों का भार वहन करना कठिन हो रहा है, तथा अभी-अभी यह उम्र भी बदल गयी है अर्थात् नवयौवन का आगमन हो गया है, ये पाँचों परिस्थितियां दुस्सह पांच अग्नियां हो रही हैं, इन्हें कैसे सहा जाय ?' प्रस्तुत पद्य में स्मर के बाण आदि पांच, जिन पर अग्नित्व का आध्यारोप किया गया है, की असह्यता वाक्यार्थ है; अतः वही यहां वाच्य है; और उस वाच्यार्थ के पर्यालोचन के सामर्थ्य से विप्रलम्भ शृङ्गार का यहां आक्षेप हो रहा है। अतः यहां वाच्यवैशिष्ट्य-निबन्धना उपादान लक्षणा होगी। इस पद्य में शब्दों की [अथवा उसके वाच्य की] उपेक्षा करके वक्ता के स्वभाव के पर्यालोचन का उपयोग नहीं है, और न ही विप्रलम्भ शृङ्गार के आक्षेप के बिना वाक्य में पदों का अन्वय ही हो पाता है। यह अन्वय वाच्य के स्वरूप का विचार करके उसके आधार पर विप्रलम्भ शृङ्गार का आक्षेप करने पर ही बन पाता है, अतः यहां वाच्यनिबन्धना उपादानलक्षणा ही माननी होगी। यह आक्षिप्यमाण विप्रलम्भ-शृङ्गार वाच्य की अपेक्षा प्रधान है। क्योंकि वह (विप्रलम्भशृङ्गार) सहृदय-हृदय के आह्लाद का हेतु है, अतः उसका आक्षेप प्रधान रूप से ही हो रहा है। इस पद्य में 'हृद्युन्मादकराः; पद में विशेष्य पद शशांकरूचि के स्त्रीलिङ्ग होने पर भी हेतु-ताच्छील्य-अथवा आनुलोम्य की विवक्षा नहीं है, अतः यहां कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (पा० ३. २.२०) सूत्र से टप्रत्यय नहीं किया गया है, साथ ही कर्म की विवक्षा न होने से 'नन्दि-ग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः(३.१३४) सूत्र से अच् प्रत्यय भी नहीं हुआ है, अपितु 'ऋदोरप् (३.३.५७) द्वारा ऋकारान्त कृञ् धातु से अप् प्रत्यय किया गया है, यही कारण है कि यहां स्त्रीलिङ्ग विशेष्य पद 'शशांक रुचयः' का विशेषण होने के कारण स्त्रीत्व विवक्षा होने पर भी 'टिड्ढाणञ्०' (४.१.३५) सूत्र से ङीप् न होकर 'अजाद्यतष्टाप्' (४.१.४) से टाप् प्रत्यय करके 'ह्लादकरा' पद बनाकर प्रयोग किया गया है, जैसा कि 'शिव-शमरिष्टस्य करे' में स्वयं आचार्यों की व्यवस्था है। इस प्रकार हेतु आदि की विवक्षा न होने के कारण टप्रत्यय के अभाव में कोई दोष न होगा।

एवं वक्तृवाक्यवाच्यानामेकैकसमाश्रयेण येऽत्र त्रयो भेदा भवन्ति ते तावदुदाहृताः। अन्येऽपि च ये वक्तारं वाक्यवाच्ययोरन्यतरेण संयोज्य तथा वाक्यं वाच्येन सह समुच्चित्य द्विकभेदास्त्रयः, तथा त्रिकभेदाश्च वक्तृवाक्य-वाच्यानां त्रयाणामपि परस्परसंयोजनया चैक इत्येवं चत्वारो भेदा दृश्यन्ते, ते स्वबुद्धया षट्प्रकारलक्षणाविषयत्वेन मनोषिभिरुदाहार्याः। तेषां च देश-कालावस्थास्वालक्षण्यगतसमस्तव्यस्तभेदप्रपञ्चयोजना लक्ष्येऽन्वेषणीया।

इस प्रकार पूर्व पृष्ठों में वक्ता वाक्य और वाच्य में से एक एक का आश्रयण करके लक्षणा के जो तीन भेद होते हैं, उनके उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। इनके

अतिरिक्त वक्ता को वाक्य अथवा वाच्य के साथ संयुक्त करके, तथा वाक्य को वाच्य के साथ संयुक्त करके, दो के वैशिष्ट्य से लक्षणा के तीन भेद हो सकते है, तथा तीनों के समाहित वैशिष्ट्य से एक भेद, इस प्रकार संयुक्त वैशिष्ट्य के जो चार भेद देखे जा सकते हैं, उनके उदाहरण पूर्वोवत छः प्रकार की लक्षणा में विद्वानों द्वारा स्वयं द्रष्टव्य हैं। उनमें भी देश, काल और अवस्था के वैलक्षण्य से समस्त अर्थात् उनके संकर-संसृष्टि में लक्षणा तथा व्यस्त अर्थात् शुद्ध प्रकार में लक्षणा अपने लक्ष्यों में (स्व-स्व उदाहरणों में) स्वयं द्रष्टव्य है।

संकलित रूप से मुकुल भट्ट के अनुसार लक्षणा के निम्नलिखित भेद हैं :-



इनके उदाहरण इस प्रकार हैं :—

१. शुद्धोपादाना लक्षणा	गौरनुवन्ध्यः, पीनो देवदत्तो भुक्ते
२. शुद्धा लक्षणलक्षणा	गंगायां घोषः
३. गौणोपचारा सारोपा	गौर्वाहीकः
४. गौणोपचारा साध्यवसाना	गौरयम् (गौः जल्पति)
५. शुद्धोपचारा सारोपा	आयुर्घृतम्
६. शुद्धोपचारा साध्यवसाना	पञ्चालाः
१. निरूढा	राजा गच्छति
२. वृद्ध व्यवहारासापेक्षा	स्निग्धश्यामल आदि,

वक्तृ-वाक्य-वाच्य वैशिष्ट्य से लक्षणा के भेद :-

१. वक्तृवैशिष्ट्यहेतुका	दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहा०।

२. वाक्यवैशिष्ट्यहेतुका — प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि०
३. वाच्यवैशिष्ट्यहेतुका — दुर्वारा मदनेषवो दिशि दिशि०

उभय वैशिष्ट्य से तीन भेद

४. वक्तृ-वाक्य-वैशिष्ट्यहेतुका — स्वयं ऊह्य
५. वक्तृ-वाच्य-वैशिष्ट्यहेतुका — ,,
६. वाक्य-वाच्य-वैशिष्ट्यहेतुका — ,,

त्रिक वैशिष्ट्य से एक भेद

७. वक्तृवाक्यवाच्यवैशिष्ट्यहेतुका — स्वयं ऊह्य

अवस्था–देश–काल आदि वैशिष्ट्य से भेद

उपर्युक्त भेदों में देश, काल और अवस्था के वैशिष्ट्य की समष्टि एवं व्यष्टि के आश्रयण से पुनः अनेक भेद हो सकते हैं।

तदेवं चतुर्विधो मुख्योऽर्थो निर्णीतः। लक्षणया (लक्षणायाः) तु षट्-प्रकारा उक्ताः।

इस प्रकार सर्वप्रथम पूर्वपृष्ठों में मुख्य अर्थ के जाति आदि चार प्रकारों का निर्णय किया गया है। उसके अनन्तर लक्षणा के छः भेद बताये गये हैं।

इदानीमभिहितान्वयोऽन्विताभिधानं तत्समुच्चयस्तदुभयाभावश्चेत्येवं ये चत्वारः पक्षास्तेषु लक्षणायाः कक्षाविभागं दर्शयितुमाह—

अन्वयेऽभिहितानां सा वाच्यत्वादूर्ध्वमिष्यते ॥७॥
अन्वितानां तु वाच्यत्वे वाच्यत्वस्य पुरःस्थिता।
द्वये द्वयमखण्डे तु वाक्यार्थपरमार्थतः ॥८॥
नास्त्यसौ कल्पितेऽर्थे तु पूर्ववत्प्रविभज्यते।

अग्रिम पृष्ठों में अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, उभय समुच्चयवाद एवं उभय-अभाववाद में जो अभिधान के चार प्रकार कहे हैं, उनसे लक्षणा की कक्षा का विभाजन अर्थात् पृथक्ता दिखाने के लिए आगे कहते हैं।

(का०) यह लक्षणा (उपचार) अभिहितान्वयवाद अर्थात् जहाँ पदार्थ की प्रतीति के अनन्तर वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए पदार्थों का अन्वय हुआ करता है, की मान्यता के पक्ष में, (पदार्थरूप) वाक्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर लक्षणावृत्ति अर्थ की बोधिका होती है। अन्विताभिधान अर्थात् जहाँ अन्वितपदों से अन्वितपदार्थरूप वाक्यार्थ का बोध होता है, के पक्ष में लक्षणाव्यापार की स्थिति

वाक्यार्थ प्रतीति के पूर्व होती है। अभिहितान्वयवाद और अन्वितभिधानवाद को समन्वित रूप से स्वीकार करने वालों के पक्ष में अर्थात् पदों की अपेक्षा अभिहितान्वय एवं वाक्य की अपेक्षा अन्विताभिधानवाद मानने वालों के पक्ष में, पहले पदार्थ प्रतीति के अनन्तर अन्वय से वाक्यार्थ प्रतीति होती है, तदन्तर अपेक्षा होने पर लक्षणा व्यापार व्यापृत होकर अर्थ बोध कराता है, उसके बाद वाक्यों को मिलाकर महावाक्यार्थ का बोध होता है। इस प्रकार समुच्चयवाद में वाक्यार्थ प्रतीति के बाद और वाक्यार्थ (महा वाक्यार्थ) प्रतीति के पूर्व लक्षणा अर्थ का बोध करती है, अतः पहले और पीछे दोनों ही स्थिति में लक्षणा होती है। अखण्डवाक्यार्थ (एवं अखण्ड महावाक्यार्थ) की प्रतीति मानने की स्थिति में परमार्थतः लक्षणा व्यापार की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं होती है। व्यावहारिक रूप में अखण्ड वाक्यार्थवादियों के मत में भी पद पदार्थ की कल्पना की ही जाती है, अतः पद एवं पदार्थ की कल्पना करने पर व्यवहारिक पक्ष में लक्षणा पहले की भांति वाक्यार्थ प्रतीति के अनन्तर एवं महावाक्यार्थ प्रतीति के पूर्व रहेगी ही।

इह केषाञ्चिदन्वयव्यतिरेकावसेयसामान्यभूतस्वार्थमात्रविश्रान्तेषु पदेषु पदार्थाकांक्षासन्निधियोग्यतामहिम्ना वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्य हर्षशोकादिवदवसेयत्वमेव। यदा हि 'ब्राह्मण पुत्रस्तेजातः' 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी'ति यथाक्रमं पुत्रजन्मकन्यागर्भिणीत्वनिमित्तौ हर्षशोकौ स्वशब्देनानभिहितावपि शब्दाभिधेयभूतवस्तुसामर्थ्यादाक्षिप्येते। एवं वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्यैव पदार्थाक्षेप्यत्वं द्रष्टव्यम्। एषां चैवंवादिनां मतेनार्थानामभिहितानामुत्तरकालं परस्परान्वयादभिहितान्वयः।

(वृ०) कुछ विचारक जो यह मानते है कि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा निश्चय करके जातिरूप पदार्थ की प्रतीति के अनन्तर पदों का व्यापार (अभिधा) विश्रान्त हो जाता है; उसके अनन्तर पदार्थगत-आकांक्षा-योजना और सन्निधि की महिमा से अनभिधेयभूत वाक्यार्थ की प्रतीति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार वाक्यार्थबोध के अनन्तर अनभिधेयभूत हर्ष, शोक आदि की प्रतीति हुआ करती है'। क्योंकि 'ब्राह्मण, तुम्हारे यहां पुत्र उत्पन्न हुआ है, 'ब्राह्मण, तुम्हारी कन्या (अविवाहित पुत्री) गर्भवती हो गयी है, इत्यादि वाक्यों से क्रमशः पुत्र जन्म और कन्या के गर्भिणीत्व के कारण हर्ष एवं शोक शब्दतः अभिधेय न होने पर भी शब्द के अभिधेयभूत वस्तु के सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रतीत होते हैं; उसी प्रकार वाक्यार्थ भी अभिधेय न होने पर भी पदार्थप्रतीति के कारण आक्षिप्त होकर प्रतीत होता है। [स्मरणीय है कि अभिहितान्वयवादी भाट्ट-मीमांसक इस वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए तात्पर्यवृत्ति को भी स्वीकार करते है। किन्तु मुकुलभट्ट ने यहां उसकी चर्चा नहीं की है। [इस संदर्भ में विस्तृत विवेचन भूमिका में द्रष्टव्य है।] इन अभिहितान्वयवादियों के मत में अथवा इन के समाना-

न्तर प्रायः समान मान्यता रखने वालों के मत में पदों द्वारा अभिधा व्यापार से अभिहित अर्थों का पदार्थ प्रतीति के वाद परस्पर अन्वय होता है। अतः इस पक्ष को अभिहितान्वयवाद कहते हैं।

अपरेत्वाहुः—वृद्धव्वहारात् शब्दार्थसम्बन्धावसायः। सच वृद्धव्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः। प्रवृत्तिनिवृत्ता च विशिष्टार्थनिष्ठे। अतो विशिष्टएवार्थे पदानां सम्बन्धावधृतिः। ततश्च विशिष्टा एव पदार्था न तु पदार्थानां वैशिष्टयम्। एवं च परस्परान्वितानां वाक्यार्थरूपतापन्नानां तत्तत्सामान्यावच्छादितत्त्वेन गृहीतस्ववाचकसम्वन्धानां पदैः प्रत्यायनादन्विताभिधानामिति।

अन्य मीमांसकों (प्रभाकर के अनुयायी मीमांसकों) का कहना है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का निश्चय वृद्धव्यवहार के द्वारा हुआ करता है। यह वृद्धव्यवहार प्रवृत्ति निवृत्तिरूप होता है; तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति व्यवहारनिष्ठ अर्थात् व्यवहार में होने वाली अर्थ हैं; अतः विशिष्ट अर्थ अर्थात् व्यवहार योग्य अर्थ (जो कि वाक्यरूप ही हो सकता है) में शब्दार्थसम्वन्ध का वोध होता है। इस प्रकार अन्वयविशिष्ट अर्थ ही पदार्थ है, न कि पदार्थों का अन्वय होता है। इस प्रकार उनके मत में परस्पर अन्वित वाक्यार्थरूपता को प्राप्त स्व-स्व जात्यर्थ से आच्छादित वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध जिनका गृहीत है, ऐसे पदों द्वारा अर्थवोध (वाक्यार्थवोध) हुआ करता है।' अतः इस वाद को 'अन्विताभिधानवाद कहा जाता है।

अन्येषां तु मते पदानां तत्तत्सामान्यभूतो वाच्योऽर्थः। वाक्यस्य तु परस्परान्विताः पदार्था इति पदापेक्षयाभिहितान्वयः, वाक्यापेक्षया त्वन्विताभिधानम्। एवं चैतयोरभिहितान्वयान्विताभिधानयोः समुच्चय इति।

इस सम्वन्ध में तृतीय मत (वाचस्पतिमिश्र का मत) यह है कि प्रत्येक पद का अपना अपना अर्थ वाच्यार्थरूप है, जो कि अनन्वित है, किन्तु वाक्य का अर्थ परस्पर अन्वितपदार्थरूप है। इस प्रकार पदों की अपेक्षा अभिहितान्वय एवं वाक्य की अपेक्षा अन्विताभिधान हुआ करता है। फलतः इस मत में अभिहितान्वय एवं अन्विताभिधान दोनों का समुच्चय रहा करता है।

अखण्डवाक्यवाक्यार्थवादिनस्त्वाहुः—विशिष्टस्य वस्तुनो वाक्यर्थत्वेऽभ्युपगम्यमाने विशेषस्यानन्वितत्वेन तद्विपरीतसामान्यविरुद्धत्वान्नपरमार्थस्वभावसामान्यभूतार्थावच्छादितरूपतया विशेषाणां स्ववाचकैः सम्बन्धग्रहणमुपपद्यते। अतः परमार्थतो वाक्यवाक्यार्थयोरखण्डत्वान्नाभिहितान्वयो नाप्यन्विताभिधानम्, न च तत्समुच्चयो युज्यते, पदार्थानामविद्यमानत्वात्। कल्पितपदार्थनिष्ठत्वेन उभयमपि व्यस्तसमस्तरूपतया कल्प्यते इति।

चतुर्थ मत अखण्ड वाक्य से अखण्ड वाक्यार्थप्रतीति को स्वीकार करने वाले वैयाकरणों का है। उनका कहना है कि [वाक्यार्थ विधि-निषेध रूप होता है। और विधि-निषेध सामान्य (जाति रूप) अर्थ में सम्पन्न नहीं हो सकते, अतः यह तो अनिवार्य रूप से मानना होगा कि] वाक्यार्थ विशिष्ट वस्तु (पदार्थ) रूप ही हो सकता है, तथा उस वस्तु में स्थित विशेष अंश, जो अनन्वित होने के कारण, विशेष से विरुद्ध; सामान्य अर्थ का विरोधी होने से वस्तु के परमार्थ स्वभावरूप जो कि सामान्य ही होता है, तथा विशेष अंश को सामान्य से अवच्छादित होना चाहिए, किन्तु विशेष वाचक पदों में भी स्व वाचकपदों के साथ (क्योंकि वे सामान्य वाचक हैं, विशेष वाचक नहीं, अतः) सम्बन्ध की व्यवस्था बन ही नहीं पाती। फलतः यह कहना अनुचित न होगा कि परमार्थतः वाक्य और वाक्यार्थ के अखण्ड होने से न तो अभिहितान्वयवाद उचित प्रतीत होता है और न अन्विताभिधानवाद और न समुच्चयवाद; क्योंकि जब पदों का अर्थ है ही नहीं, फिर अभिधान से पूर्व या पश्चात् या समुच्चय पूर्वक अन्वय का प्रश्न ही नहीं है। यहां व्यावहारिक प्रकिया में पद पदार्थ की कल्पना कर लेने पर तीनों में से किसी भी पक्ष की संभावना की जा सकती है [1]

तत्र च यदा तावदभिहितान्वयस्तदा स्ववाचकैरभिहितानां पदार्थानामभिहितोत्तरकालमाकांक्षायोग्यतासन्निधिमाहात्म्याद्विशेषणविशेष्यभावात्मके परस्पर समन्वये सति सा लक्षणा पदार्थानां सामान्यभूतानां यद्वाच्यत्वं तस्मादूर्ध्वं वाक्यार्थे पदार्थसामर्थ्यादवगम्यमाने सतोष्यते। अन्विताभिधानपक्षे त्वन्वितानां विशिष्टानामेव पदार्थानां वाच्यमभिधेयत्वं, न तु पदार्थानां सामान्यभूतत्वेनाभिहितानां वैशिष्ट्यम्। तत्र विशिष्यमाणानां वस्तूनां पदार्थत्वं तावन्न घटते यावत्सकलवाक्यार्थानुयायितया प्रतिपन्नस्याव्यभिचरितस्ववाचकसम्वन्धस्य सामान्यरूपस्य निमित्तभूतस्यार्थस्य सम्प्रत्यये सति तत्तद्वाक्यार्थविषयतया यथाविषयं षट्प्रकारा लक्षणा नाविर्भवति। अतोऽन्विताभिधाने विशिष्टानां पदार्थानां वाक्यार्थस्वभावानां यद्वाच्यत्वं तस्य

१. यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते। वाक्यपदीय २.१०
ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युः निरर्थकाः।। वही २.१४
अभेदपूर्वकाः भेदाः कल्पिताः वाक्यवादिभिः।
भेदपूर्वानभेदाँस्तु मन्यन्ते पददर्शिनः। वही २.५८
उपायाः शिक्षमाणानां वालानामपलापनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।। वही २.२४०।

पुरः तस्मात्पूर्वनिमित्तावस्थायां लक्षणावस्थिता। अभिहितान्वयान्विताभिधान-समुच्चये तु पूर्वोदितन्यायद्वितयसंकलनया पदापेक्षया वाच्यत्वोत्तरकाल-भाविना लक्षणा भवति। वाक्यार्थोत्तरकालं तस्याः पूर्वमवस्थानम्। तदिद-मुक्तं द्वये द्वयमिति। द्वये = अभिहितान्वयान्विताभिधानसमुच्चयात्मक, द्वयं = वाच्यत्वादूर्ध्वं प्राग्भावश्च लक्षणाया इत्यर्थः। अखण्डे तु वाक्यार्थेऽसौ लक्षणा परमार्थेन नास्ति। भिन्नानां पदार्थाना परमार्थतोऽभिधयभावस्यानुपपद्यमान-त्वात् तदाश्रितत्वाच्च लक्षणायाः कल्पितपदार्थसंश्रयेण तु सा लक्षणा। यथा-रुचि पूर्ववदभिहितान्वयान्विताभिधानतत्समुच्चयकल्पनया विभक्तन्यग्भागे निवेश्य परस्परस्य देशकालावच्छेदेनाशेषव्यवहर्तृ निष्ठतया रूढत्वात्। एवम-भिहितान्वयादिपक्षचतुष्टये लक्षणायाः कक्षाविभागो निरूपितः।

इस प्रकार उपर्युक्त चारों ही वादों में से प्रथम अभिहितान्वयवाद मानने पर अपने अपने वाचक पदों के द्वारा पदार्थों का अभिधान होने के अनन्तर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के प्रभाव से उन पदार्थों में विशेषण-विशेष्यभाव की स्थापना पूर्वक परस्पर अन्वय होकर वाक्यार्थ प्रतीति होती है। इस वाक्यार्थ प्रतीति के समय वाक्यार्थ के लिंग आदि किसी भी पदार्थ में विसंगति का अनुभव होने पर अथवा-सामान्य भूत पदार्थों का जो वाक्यार्थ है, उससे भिन्न अन्य वाक्यार्थ का पदार्थसामर्थ्यात् भान होने पर लक्षणा व्यापार को स्वीकार किया जाता है। अन्विताभिधानवाद पक्ष में अन्वित विशिष्ट पदार्थ ही वाच्य अर्थात् अभिधेय रहा करते हैं, न कि सामान्य पदार्थों से विशिष्ट वाक्यार्थ का बोध होता है। इस पक्ष में वैशिष्ट्यभाव को प्राप्त वस्तुओं का पदार्थ होना, तब तक संगत नहीं हो पाता, जब तक सकल वाक्य के अनुयायी अव्य-भिचरितरूप (नियतरूप) से वाचक के निमित्तभूत (विशिष्टार्थ प्रतीति के निमित्तभूत) सामान्यरूप अर्थ की प्रतीति होने के अनन्तर उन उन वाक्यार्थों के लिए अपेक्षित षड्विध लक्षणाओं में अन्यतम लक्षणा का उदय न हो। तात्पर्य यह है कि अन्विताभिधान-वादी मीमांसकों के मत में भी अर्थ तो सामान्यरूप (जाति रूप) होता है, किन्तु प्रवृत्ति निवृत्ति के हेतुभूत वाक्यार्थ को सामान्यरूप न होकर विशिष्ट होना चाहिए, तथा विशिष्ट अर्थ का बोध लक्षणा (छ प्रकार की लक्षणा भेदों में से अन्यतम) के आश्रय के बिना होता ही नहीं; तथा उनके मत में अभिधेयार्थ वाक्यार्थ रूप ही होता है, पदार्थ रूप नहीं, अतः वाक्यार्थ (अभिधेयार्थरूप वाक्यार्थ) की प्रतीति से पूर्व लक्षणा की अनिवार्यतः आवश्यकता होती है। [इसलिए यह कहना अनुचित नहीं है कि] अन्विताभिधानवाद पक्ष में वाक्यार्थ की स्थिति में पदार्थों का जो स्वभाव है, अर्थात् विशिष्टरूप पदार्थ है (सामान्यरूप नहीं) उसकी प्रतीति के पूर्व ही प्रतीति की निमित्त-भूत लक्षणा की स्थिति अनिवार्यतः रहती है। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद में लक्षणा की

स्थिति अभिधा से पूर्व होती है। अभिहितान्वय और अन्विताभिधान के समुच्चय को स्वीकार करने वाले समुच्चय-वादियों के मत में पूर्वोक्त दोनों वादों का संकलन होने के कारण पदों की अपेक्षा से वाच्यार्थ प्रतीति के अनन्तर एवं वाक्य की अपेक्षा से वाक्यार्थ प्रतीति से पूर्व उसकी स्थिति हुआ करती है। इसलिए कारिका में कहा है 'द्वये द्वयम्' अर्थात् समुच्चयवाद में (पदों द्वारा) वाच्यार्थ प्रतीति के पश्चात् एवं वाक्य द्वारा वाक्यार्थ प्रतीति से पूर्व, इस प्रकार वाच्यार्थ प्रतीति से पश्चात् और पूर्व दोनों अवस्थाओं में लक्षणा की सत्ता अनिवार्यतः रहती है। अखण्ड वाक्य द्वारा अखण्ड वाक्यार्थ प्रतीति को मानने पर परमार्थतः लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि इस पक्ष में परमार्थतः भिन्न-भिन्न पदार्थ अभिधेय माने ही नहीं जाते, जबकि लक्षणा पदार्थों पर ही आश्रित रहा करती है। पदार्थों की काल्पनिक सत्ता मानने पर अवश्य लक्षणा की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार चाहे अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करें, या अन्विताभिधानवाद को अथवा दोनों के समुच्चयवाद को अथवा केवल छोटे-छोटे पदों पदार्थों की काल्पनिकता को यथारुचि स्वीकार किया जाए, देश काल और अवस्था आदि के भेद से यथावसर सभी वाणी के व्यवहारकर्त्ताओं में लक्षणा विद्यमान रहती ही है। इस प्रकार अब तक अभिहितान्वयवाद आदि चारों वादों की पृथक् पृथक् स्वीकृति की स्थिति में लक्षणा की स्थिति का विवेचन ऊपर के पृष्ठों में किया गया है।

एवमभिहितान्वयादिपक्षचतुष्टये लक्षणायाः यत्र मुख्यार्थासम्भवस्तत्र मुख्यार्थासन्नवस्तुविषयां सति प्रयोजने प्रवृत्तिमुपदर्शयितुमाह—

मुख्यार्थासम्भवात्सेयं मुख्यार्थासत्तिहेतुका ॥९॥
रूढेः प्रयोजनाद्वापि व्यवहारे विलोक्यते।

या चेयं षट्प्रकारा लक्षणा पूर्वमुक्ता सा मुख्यस्यार्थस्य प्रमाणान्तरबाधितत्वेनासम्भवाल्लक्ष्यमाणस्य चार्थस्य मुख्यार्थप्रत्यासन्नत्वात् सान्तरार्थग्रहणस्य च सप्रयोजनत्वादित्येवंविधकारणत्रितयात्मकसामग्रीसमाश्रयणेन वृद्धव्यवहारे परिदृश्यते।

इस प्रकार उपर्युक्त अभिहितान्वयवाद अन्विताभिधानवाद उभयसमुच्चयवाद एवं अखण्डवाक्यवाक्यार्थवाद चारों ही पक्षों में जब मुख्यार्थ की संगति संभव नहीं होती, उस स्थिति में प्रयोजन विशेष रहने पर मुख्यार्थ से आसन्न (सम्बद्ध) अर्थ की प्रतीति के लिए लक्षणा की प्रवृत्ति होती हैं, इसका प्रतिपादन कारिका में तथा अग्रिम पंक्तियों में करते हैं।

(का०) पूर्ववर्णित यह लक्षणा मुख्यार्थ [की संगति] की असम्भावना होने पर मुख्य अर्थ से (इतर प्रतीयमान अर्थ के) सम्बन्धविशेष को हेतु मान कर रूढि अथवा

प्रयोजन विशेष के विद्यमान रहने पर व्यवहार में दिखाई पड़ती है।

(वृ०) पूर्व वर्णित यह षड्विध लक्षणा प्रमाणान्तर द्वारा मुख्य अर्थ के बाधित होने से [संगति की संभावना न रहने के कारण] जब वह अर्थ असम्भव प्रतीत होता है, उस स्थिति में जब लक्ष्यमाण अर्थ मुख्यार्थ से प्रत्यासन्न अर्थात् सम्बन्ध विशेष द्वारा सम्बद्ध रहता है, तथा जब लक्ष्य (सान्तर) अर्थ के ग्रहण में [अर्थात् उस लक्ष्यार्थ की प्रतीति हेतु वाचक पद के स्थान पर लक्षक पद के प्रयोग में] प्रयोजन विशेष विद्यमान रहता है, तब इन तीन कारण सामाग्री के आश्रयण से वृद्ध व्यवहार में वह (लक्षणा) देखी जाती है।

यच्च तन्मुख्यार्थासन्नत्वं तत्पञ्चप्रकारतयाचार्यभर्तृमित्रेण प्रदर्शितम्—

"अभिधेयेन सम्बन्धात्सादृश्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधामता।"

इति श्लोकेन। तेन प्रयोजनस्यापि द्वैविध्यम्। किञ्चिद्धि सान्तरार्थ-परिग्रहे प्रयोजनमनादिवृद्धव्यवहारप्रसिद्धयनुसरणात्मकत्वात् रूढ्यनुवृत्ति-स्वभावम्, यथा द्विरेफादौ। द्विरेफशब्देन हि रेफद्वितययोगित्वेन भ्रमरशब्द-लक्षणाद्वारेण रूढ्यनुवृत्तिरेव क्रियते। अपरं तु रूढ्यनुसरणात्मकं यत् प्रयोजन-मुक्तं तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरगतस्य संविज्ञानपदस्य रूपविशेषस्य प्रतिपादनं नाम, यथा पूर्वमुदाहृतं रामोऽस्मीति। एतच्च प्रयोजनद्वितयं मुख्यार्थासम्भवे सति मुख्यार्थप्रत्यासन्नतया पूर्वोपदर्शितेन सम्बन्धपञ्चकेनावगम्यमाने लाक्ष-णिकेऽर्थे यथाविषयमनुसर्त्तव्यम्।

आचार्य भर्तृमित्र ने लक्ष्य अर्थ की मुख्य अर्थ से आसन्नता पांच प्रकार से प्रदर्शित की है— (i) अभिधेय अर्थ एवं लक्ष्य अर्थ में सम्बन्ध होने कारण, (ii) सादृश्य के कारण, (iii) समवाय (सहचरण), (iv) वैपरीत्य तथा (v) क्रिया विशेष से योग के कारण लक्षणा पांच प्रकार की हो सकती है।" स्मरणीय है न्यायसूत्रकार गौतम ने सहचरण स्थान तादर्थ्य वृत्त (व्यवहार) परिमाण एवं भारपरिमाण धारण (अधिक-रण होना) सामीप्य योग (गुण इत्यादि से युक्त होना) कारण (साधन) और आधिपत्य सम्बन्धों के रहने पर भी लक्षणा की आवश्यकता स्वीकार की है और उन्होंने उसके एक एक उदाहरण भी स्वयं उपस्थित करके इस प्रसङ्ग में पर्याप्त मार्ग दर्शन किया है—सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजस-क्तुचन्दनगंगाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः।' (न्यायसूत्र २,२,६०) लक्षणा के लिए अपेक्षित अनिवार्य तत्त्वों में रूढि एवं प्रयोजन में अन्यतर की चर्चा पूर्व पृष्ठों में की जा चुकी है। आचार्य मुकुलभट्ट ने प्रयोजन की द्विविधता का प्रति-पादन किया है। उनमें से प्रथम प्रयोजन वह है कि जहां लक्षक शब्द द्वारा

कुछ व्यवहित (सान्तर) अर्थ का ग्रहण करना अभीष्ट होता है। सान्तर अर्थ के ग्रहण की प्रक्रिया में अनादिकाल से वृद्ध-व्यवहार में प्रसिद्ध अर्थ का ही अनुसरण करना रहता है, यहां भी एक प्रकार से रूढि का अनुसरण मात्र होता है। उदाहरणार्थ द्विरेफ आदि पद लिये जा सकते हैं। यहाँ द्विरेफ (दो रवर्णमाला) पद से दो रेफों (रवर्णों) से युक्त भ्रमर शब्द की प्रतीति लक्षणा के द्वारा होती है। इस प्रकार यहां लक्षणा द्वारा पुनः रूढि का (अभिधायक भ्रमर शब्द को लक्षणा द्वारा प्रतीति एवं उस शब्द के द्वारा अभिधा से अभीष्ट से अर्थ की प्रतीति होने के कारण रूढि अभिधा का) ही अनुसरण किया जाता है। द्वितीय प्रकार का प्रयोजन वह है, जहां अनुपद पूर्वोक्त रूढि के अनुसरणात्मक प्रयोजन से भिन्न(सर्वथा भिन्न) वस्वन्तर (अन्य वस्तु) में विद्यमान अविज्ञात धर्मरूपी स्वरूपविशेष का प्रतिपादन हुआ करता है। जैसा कि पूर्व उदाहृत 'स्निग्धश्यामल' आदि पद्य में'रामोऽस्मि' अंश में हुआ है। इन दोनों प्रयोजनों में से किसी भी एक का अनुसरण वहां किया जाता है, जहां मुख्य अर्थ संभव (संगत) न हो पा रहा हो तथा पूर्व वर्णित पांच सम्बन्धों में से अन्यतम का आश्रयण करके प्रतीत होने वाले लाक्षणिक अर्थ में किसी पद का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् मुख्यार्थबाध के अनन्तर पूर्वोक्त सम्बन्धों के कारण जब अनेक सम्बद्ध अर्थों में से एक अर्थ को समझने के लिए निश्चय करना होता है उस समय इन दो प्रकार के प्रयोजन में अन्यतम का अनुसरण (आश्रय) करके वक्ताके तात्पर्य के अनुकूल अर्थ का निश्चयपूर्वक ग्रहण किया जाता है। [इस प्रकार मुख्यार्थ के असंगत होने पर सम्बन्ध विशेष एवं प्रयोजन विशेष के आश्रयण से प्रतीत होने वाले अर्थ की बोधिका लक्षणा प्रयोजन भेद से दो प्रकार की एवं सम्बन्ध भेद से पांच प्रकार की हो सकती है। सम्बन्ध भेद से होने वाले लक्षणा के भेद को मुकुलभट्ट ने यथावसर निम्न-लिखित नाम दिये हैं :— (१) सम्बन्ध लक्षणा, (२) सादृश्य लक्षणा, (३) समवाय लक्षणा, (४) वैपरीत्य लक्षणा, (५) क्रियायोग लक्षणा। इनके उदाहरण क्रमशः आगे दिये जा रहे हैं।

तत्र सम्बन्धलक्षणा, 'यथा गङ्गायां घोष' इति। अत्र हि गङ्गाशब्दाभि-धेयस्य स्रोतोविशेषस्य घोषाधिकरणत्वानुपपत्त्या मुख्यशब्दार्थबाधे सति योऽसौ समीपसमीपिभावात्मकः सम्बन्धस्तदाश्रयेण तटं लक्षयति। अत्र च लक्षणायाः प्रयोजनं तटस्य गङ्गात्वैकार्थसमवेताऽसंविज्ञानपदपुण्यत्वमनोहर-त्वादिप्रतिपादनम्। न हि तत्पुण्यत्वमनोहरत्वादिस्वशब्दैः स्प्रष्टुं शक्यते। अव्याप्त्यतिव्याप्तिप्रसङ्गात्।

१. सम्बन्धलक्षणा :—'गङ्गायां घोषः' वाक्य में 'सम्बन्धलणणा है, क्योंकि यहां गङ्गा पद का अभिधेय अर्थ जल की धारा विशेष है, जो कि घोष (अहिरों के ग्राम) का आधार नहीं हो सकता, इस प्रकार मुख्य अर्थ में बाधा उपस्थित होने पर इस

जलधारा में विद्यमान समीपसमीपिभाव सम्वन्ध तटरूप अर्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति कराता है। इस स्थल पर लक्षणा का प्रयोजन केवल गङ्गारूप एक अर्थ में विद्यमान रहने वाले, साथ ही तट में अविदित धर्मविशेष (असंविज्ञानपद) पुण्यत्व मनोहारित्व आदि का तट में प्रतिपादन करना हैं। तट में उस पुण्यत्व और मनोहरत्व आदि की प्रतीति का स्पर्श भी 'तट' आदि शब्दों द्वारा नहीं हो सकता। [क्योंकि तट शब्द से संकेतित 'तीररूप' अर्थ में पुण्यत्व और विशिष्ट मनोहरता स्वीकृत नहीं है, अतः तट पद द्वारा उक्त विशिष्ट अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है, इसी लिए सतत पुण्यताशालि एवं मनोहारिणी जलधारा के वाचक गंगा शब्द का प्रयोग तट के लिए किया गया है।] यदि तट शब्द से ही उस पुण्यत्व और मनोहारित्व का बोध स्वीकार करना चाहेंगे, तो अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों की सम्भावना होगी। लक्ष्य में रहते हुए लक्ष्य से अतिरिक्त में भी लक्षण के पहुंचने को अतिव्याप्ति दोष कहते हैं [अतिव्याप्तिः लक्ष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्ये सति लक्ष्यतावच्छेदकावछिन्न-प्रतियोगिताकभेदसामानाधिकरण्यम्। (तर्ककिरणावली श्रीकृष्णवल्लभाचार्य रचित पृ० १४) यहां तट पदरूप लक्षण के लक्ष्य अर्थ तीर की प्रतीति के साथ साथ तीर से अतिरिक्त पुण्यत्व एवं मनोहारित्व अर्थ की भी तट पद द्वारा प्रतीति मानने पर अधिक देशवृत्तित्वरूप अतिव्याप्ति दोष होगा, साथ ही तट पद वाच्य पुण्यत्व आदि रहित सामान्य तीर का बोध न होने के कारण अव्याप्ति दोष भी उपस्थित होगा। अतः अतिव्याप्ति और अव्याप्ति आदि दोषों की सम्भावना के विना ही तीर अर्थ में पुण्यत्व आदि का बोध कराने के लिए वाचक तट पद का प्रयोग न कर पुण्यत्व आदि विशिष्ट स्रोत (जलधारा) के वाचक गङ्गापद का प्रयोग किया गया है। गङ्गापद से विशिष्ट तीर अर्थ का बोध यहां गङ्गा एवं तीर के सम्वन्ध अर्थात् समीपसमीपिभावसम्वन्ध के कारण होता है, अतः इसे सम्वन्धलक्षणा नाम दिया गया है।

सादृश्यलक्षणायामुदाहरणम्—

'भ्रमर ! भ्रमता दिगन्तराणि क्वचिदासादितमोक्षितं श्रुतं वा।
वद सत्यमपास्य पक्षपातं यदि जातीकुसुमानुकारि पुष्पम् ॥

अत्र हि भ्रमरपुष्पशब्दौ संबोधनान्यथानुपपत्त्या बाधितमुख्यार्थावभिधेयसादृश्यात्तद्गतगुणप्रयुक्तमर्थान्तरं लक्षणयावगमयतः। प्रयोजनं चात्र भ्रमरत्वपुष्पत्वैकार्थसमवेतक्रियागुणसदृशानामसंविज्ञानपदानां क्रियागुणानां प्रतिपादनम्।

सादृश्यलक्षणा :—'भ्रमर! भ्रमता' इत्यादि। 'हे भ्रमर, पक्षपात छोड़कर सत्य कहो कि सभी स्थानों में (दिग्दिगन्तर में) घूमते हुए तुमने यदि जाती कुसुम

(जायफल) के सदृश कहीं भी फूल पाया हो अथवा देखा या सुना हो।' प्रस्तुत पद्य में किसी कामुक को भ्रमर पद से सम्बोधन कर किसी कुट्टिनी द्वारा किसी नवयौवना वेश्या के उरोजों के अग्रभाग को जातीकुसुम पद से लक्षित कराते हुए उसके उरोजों की विशिष्टता के माध्यम से उसके सौन्दर्य की प्रशंसा की गयी है। इस सन्दर्भ में 'भ्रमर' एवं 'जातीकुसुम के पुष्प' पदों के वाच्य अर्थ षट्पद एवं पुष्प-विशेष के प्रकरण में अविद्यमान रहने के कारण सम्बोधन आदि के संगत होंने के कारण इन पदों का मुख्य अर्थ बाधित होता है, उसके अनन्तर भ्रमर पद वाच्य षट्पद के 'नित्य नवीन पुष्प की कामना के सदृश नित्य नवीन सुन्दरी की कामनारूप गुण के कारण कामिरूप अर्थ एवं जातीकुसुम के पुष्प में विद्यमान कठोरत्व एवं वर्त्तुलत्व आदि गुण के सदृश नायिका (वेश्या) के उरोजों में विद्यमान विशिष्ट कठोरत्व एवं वर्त्तुलत्वरूप गुणों के सादृश्य के कारण उसके उरोजरूप अर्थान्तर की प्रतीति भ्रमर एवं पुष्प शब्द कराते हैं। इस प्रतीति विशेष का हेतु सादृश्य सम्बन्ध है। कामी एवं नायिका के उरोजों के लिए भ्रमर एवं पुष्प पदों के प्रयोग करने का प्रयोजन भ्रमर एवं पुष्प अर्थ में रहने वाले क्रिया एवं गुणों के सदृश कामुक एवं नायिका के उरोजों की क्रिया एवं गुणों का प्रतिपादन है।

समवायतो लक्षणा, यथा 'छत्रिणो यान्तो'ति। अत्र बहुवचनप्रयोगान्मुख्यशब्दार्थबाधः। नह्येकस्मिं श्छत्रिणि बहुवचनस्य प्रयोग उपपद्यते। अतोऽत्र गमनलक्षणायां क्रियायां छत्रिणा सह योऽसौ छत्रशून्यानां समवायः साहचर्यं तद्वशात् छत्रिशब्देन छत्रशून्या अपि लक्षणायावगम्यन्ते। प्रयोजनं चात्र छत्र-शून्यानां सर्वात्मना छत्रोपेतस्वाम्यनुयायितया प्रतिपादनम्।

समवायलक्षणा :—समवाय अर्थात् सहचरण सम्बन्ध पर आश्रित लक्षणा का उदाहरण 'छत्रिणो यान्ति' अर्थात् 'छातावाले चले जारहे हैं' इत्यादि हैं। यहां एक छाता वाले के लिए बहुवचन का प्रयोग होने से मुख्य अर्थ बाधित हो रहा है; क्योंकि एक छाता वाले के लिए बहुवचन का प्रयोग उपपन्न (संगत) नहीं होता। अतएव यह गमनरूप क्रिया में साथ साथ प्रवृत्त अर्थात् साथ चलनेवाले छत्र-धारी के साथ छत्ररहित पुरुषों के समवाय का, अर्थात् साहचर्य के कारण 'छत्री' शब्द के द्वारा छत्ररहित पुरुषों के समूह का बोध लक्षणा द्वारा होता है। यहाँ छत्री पद द्वारा छत्ररहित व्यक्तियों का भी प्रतिपादन करने का प्रयोजन छत्ररहित व्यक्तियों में छत्रधारी स्वामी के पूर्ण अनुयायिभाव की प्रतीति कराना है।

वैपरीत्याल्लक्षणा, यथा 'भद्रमुख' इति। अत्र हि भद्रमुखशब्दस्या-भद्रमुखे प्रयोगात्स्वार्थबाधः। अतोऽसौ वाच्यभूतभद्रमुखत्वविपरीतत्वादभद्र-

मुखत्वं विपरीतनिवन्धनया लक्षणया प्रत्याययति। अत्र च लक्षणा प्रयोजनं गुप्तासत्यार्थप्रतिपत्तिः। गुप्तो ह्यसत्योऽर्थस्तत्तदभिप्रायवशेन प्रायेण प्रयोक्तृभिः प्रतिपाद्यते।

विपरीत लक्षणा :—विपरीतलक्षणा का उदाहरण 'भद्रमुख' पद है। यहां अभद्रमुख व्यक्ति के लिए 'भद्रमुख' पद का प्रयोग होने के कारण मुख्य अर्थ बाधित होता है। अतः वह भद्रमुख पद अपने वाच्यार्थभूत अर्थ के 'भद्रमुखत्व' के विपरीत होने के कारण विपरीत निवन्धना लक्षणा के द्वारा अभद्रमुख अर्थ का बोध कराता है। यहां लक्षणा का प्रयोजन उस व्यक्ति विशेष के अन्दर निहित गुप्त असत्य अर्थ की प्रतीति कराना है। इस प्रकार के गुप्त असत्य अर्थ का कथन भिन्न-भिन्न अभिप्रायों के कारण वक्ता गण प्रायः करते हैं।

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे, सुखितमास्व ततः शरदां शतम्।"

इत्यादि अनेकप्रसिद्ध पद्य इसके निदर्शन हैं।

क्रियायोगाल्लक्षणायामुदाहरणं यथा-'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वमिति'। अत्र हि अशत्रुघ्ने शत्रुघ्नशब्दप्रयोगान्मुख्यशब्दार्थबाधः। शत्रुघ्नशब्दश्चाशत्रुघ्ने शत्रुहननक्रियाकर्तृत्वयोगाल्लक्षणयोक्तः। प्रयोजनं चात्र शत्रुघ्नशब्दाभिधेये नृपतिरूपताप्रतिपादनम्। तथा च—

पृथुरसि गुणैः, कान्त्या रामो नलो भरतो भवान्
महति समरे शत्रुघ्नस्त्वं क्षितौ जनकः स्थितेः।
इति सुचरितैः ख्यातिं बिभ्रच्चिरन्तनभूभृतां
कथमसि न मान्धाता देव त्रिलोकविजय्यपि॥

इति शत्रुघ्नरूपताया नृपतित्वमुपश्लोक्यमानस्य राज्ञो वर्णितम्। तदेवं निवन्धनत्रितयसमुद्भवता लक्षणात्रयस्योक्ता।

क्रियायोग-लक्षणा :—क्रियायोग अर्थात् 'क्रियावान् होना' सम्वन्ध के कारण प्रयुक्त लक्षणा का उदाहरण 'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्' अर्थात् महान् युद्ध में तुम तो शत्रुघ्न हो', है। यहां उस व्यक्ति के लिए, जो कि शत्रुघ्न नहीं है, शत्रुघ्न शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः मुख्य अर्थ में बाध है। वह शत्रुघ्नपद शत्रुओं का विनाश करने वाले व्यक्ति का वाचक है, किन्तु यहां शत्रुघ्न नाम रहित व्यक्ति के लिए प्रयुक्त शत्रुघ्नपद के प्रयोग का हेतु उस व्यक्ति का 'शत्रुहनन क्रिया' से सम्वन्ध होना है। इस प्रकार शत्रुघ्न पद 'शत्रुहनन क्रिया' से सम्वन्ध के कारण शत्रुघ्न नाम से भिन्न व्यक्ति का क्रियायोग लक्षणा के द्वारा बोध कराता है। [स्मरणीय है कि शत्रुघ्न पद शत्रुघ्न नामक व्यक्ति के लिए रुढि हुआ करता है, जवकि 'शत्रुं हन्ति इति शत्रुघ्नः'

इस व्युत्पत्ति के अनुसार किसी भी शत्रु हन्ता के लिए यौगिक रूप से वाचक हो सकता है। वस्तुतः सामान्य व्यवहार में यौगिक अर्थ स्वीकार नहीं किया जाता अपितु रुढि अर्थ ही स्वीकृत होता है—'अन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तमन्यद् व्युत्पत्तिनिमित्तम्' यथैकेषाम्मते गमनादिक्रिया गवादिशब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम्, एकार्थसमवायात् गोत्वादिप्रवृत्तिनिमित्तीकरोति, अतएव गच्छत्यगच्छत्यपि गोशब्दः सिद्धो भवति [व्यक्ति विवेक पृ० २५] 'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौःशेते' इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्। [सा० द० पृ० ३७–३८] इत्यादि वचन एवं लोक व्यवहार इसका साक्षी है। फलतः शत्रुघ्नपद शत्रुहन्ता का वाचक न होकर उस पद द्वारा संकेतित व्यक्ति विशेष का ही वाचक होगा। यही कारण है कि असंकेतित व्यक्ति के लिए किये गये 'महति समरे त्वं शत्रुघ्नः' इत्यादि स्थलों पर लक्षणा मानने की आश्यकता होती है। इस प्रकार के स्थलों में शत्रुघ्न नाम रहित व्यक्ति के लिए शत्रुघ्न शब्द का प्रयोग करने पर शत्रुघ्न शब्द के अर्थ (अन्य आचार्यों के अनुसार अभिधेय) व्यक्ति में नृपतिरूपता का प्रतिपादन प्रयोजन हुआ करता है।

इसी प्रकार—

'पृथुरसि गुणैः' इत्यादि अर्थात् 'तुम गुणों के आधार पर पृथु हो, कीर्ति के कारण राम, नल और भरत हो। महायुद्धों में तुम शत्रुघ्न हो, पृथिवीपर स्थिति के कारण जनक हो। इस प्रकार अपने सुचरितों के कारण प्राचीन राजाओं की ख्याति (प्रसिद्धि एवं संज्ञा) को प्राप्त करते हुए भी त्रिलोक विजयी होकर भी तुम मान्धाता (राजा विशेष तथा मेरा पोषण करने वाले) क्यों नहीं हो ?' प्रस्तुत पद्य (८+य) में शत्रुघ्न के रूप में जिस व्यक्ति की स्तुति की जा रही है उस राजा का नरपाल होना लक्षण के द्वारा वर्णित है। इस प्रकार मुख्यार्थबाध सम्बन्ध (लक्षक पद के मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच सम्बन्ध) तथा रुढि प्रयोजन में अन्यतम के द्वारा लक्षणा के उत्थान की चर्चा करते हुए हेतु के आधार पर लक्षणा के त्रैविध्य की वर्णन किया गया है।

इदानीं पञ्चविधसम्बन्धनिबन्धनायामासत्तौ पूर्वोपवर्णितायां क्वचिद्वाच्यस्यातितिरस्कारः क्वचिद् विवक्षितत्वं क्वचिच्चाविवक्षितत्वमित्येवंविधं त्रयं यत्सहृदयैरुपदर्शितं तस्य विषयविभागमुपदर्शयितुमाह—

साहश्ये वैपरीत्ये च वाच्यस्यातितिरस्क्रिया ॥१०॥
विवक्षा चाविवक्षा च सम्बन्धसमवाययोः।

उपादाने विवक्षात्र लक्षणे त्वविवक्षणम् ॥११॥
तिरस्क्रिया क्रियायोगे क्वचित्तद्विपरीतता ।

'अभिधेयेन सम्बन्धादि'त्यत्र यदासत्तिरूपं पञ्चकमुक्तं तत्र सादृश्ये वैपरीत्ये च वाच्यस्यात्यन्तं तिरस्कारः । तथाहि–सादृश्यनिबन्धनायां लक्षणायामुपमानवाचिनः पदस्योपमेयपरत्वमुपमानात्मकं वाच्यमत्यन्तं तिरस्क्रियते । यथोपदर्शितं 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्ते'ति 'पयोदसुहृदामि'ति च । अत्र हि लिप्तसुहृच्छब्दयोः स्वार्थोपमितवस्तुपरत्वात् स्वार्थस्यात्यन्तं कार्येऽनन्वितत्वम् । वैपरीत्यसमाश्रयायामपि तस्यामर्थान्तरस्य वाच्यविपरीतस्योपादेयत्वाद्वाच्यस्यात्यन्तं तिरस्कारः, यथा 'भद्रमुखे'ति । अत्र हि भद्रमुखत्वमभद्रमुखत्वादत्यन्तं तिरस्कृतम् । एवं सादृश्यवैपरीत्ययोरत्यन्ततिरस्कृतवाच्यता ।

अग्रिम पंक्तियों में पञ्चविध सम्बन्धों के कारण सम्वद्ध होने पर पूर्ववर्णित लक्षणा में कहीं वाच्य अर्थ का अत्यन्ततिरस्कार रहता है, और कहीं वाच्यविवक्षित रहता है, तथा कहीं वाच्य का अत्यन्ततिरस्कार न होते हुए भी वह विवक्षित नहीं रहता । इस प्रकार लक्षणा के विषय की त्रिविधता का सहृदय द्वारा जो वर्णन किया गया है उसका विषय विभाजन करने के लिए अग्रिम कारिकाओं में कारिकाकार कहते हैं :—

(का०) सादृश्य और वैपरीत्य सम्बन्ध पर आश्रित लक्षणा में वाच्य अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहता है । सम्बन्ध (सम्बन्ध सामान्य) एवं समवाय (सहचरण) में वाच्य अर्थ की विवक्षा और अविवक्षा दोनों रहती हैं । अर्थात् उपादानलक्षणा में वाच्यार्थ की विवक्षा रहती है तथा लक्षणलक्षणा में नहीं रहती । क्रियायोग-सम्बन्ध पर लक्षणा के निर्भर रहने पर कभी वाच्यार्थ तिरस्कृत रहता है और कभी लक्ष्य अर्थ वाच्य अर्थ से सर्वथा विरुद्ध हुआ करता है ।

(वृ०) 'अभिधेयेन सम्बन्धात्' इत्यादि भर्तृमित्र की कारिका में जिन पांच आसत्ति हेतुओं का परिगणन (पृष्ठ ४५ में) किया गया है उनमें से सादृश्य और वैपरीत्य के आधार पर आश्रित लक्षणा में वाच्य अर्थ का अत्यन्त तिरस्कार रहता है । क्योंकि सादृश्य निबन्धना लक्षणा में उपमानवाची पद उपमेयपरक रहता है, उस स्थिति में उसका वाच्य उपमानरूप अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है । जैसा कि 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्त' इस अंश में तथा 'पयोदसुहृदाम्' इत्यादि पद्य में हुआ है । यहां लिप्त एवं सुहृद् पदों का स्वअर्थ अर्थात् मुख्य अर्थ उपमित वस्तु परक है । अतएव वह मुख्यार्थ कार्य में अत्यन्त अनन्वित है अर्थात् कार्य में उपमानरूप अर्थ किञ्चित्मात्र भी अन्वित नहीं है । यही स्थिति वैपरीत्य सम्बन्ध में भी होती है ।

वहां भी वाच्य अर्थ से विपरीत अर्थान्तर 'उपादेय (ग्राह्य) होता है, अतएव वाच्य अत्यन्ततिरस्कृत रहता है, जैसे—'भद्रमुख' इत्यादि। यहां क्योंकि भद्रमुख पद उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त है' जो सर्वथा अभद्रमुख है, अतः भद्रमुखत्व अत्यन्त तिरस्कृत है। इस प्रकार सादृश्य और वैपरीत्य सम्बन्ध में वाच्य अत्यन्ततिरस्कृत रहता है।

सम्बन्धसमवाययोस्तु वाच्यस्य विवक्षितत्वाविवक्षितत्वेन (द्वैविध्यम्। तथाहि क्वचिद् वाच्यस्य विवक्षितत्वं न तस्य तिरस्कारः, अविवक्षितत्वेतु ?)* तस्यात्यन्तं तिरस्कारः। तत्र ह्युपादानात्मिकायां लक्षणायामुपादाने वाच्यविवक्षायां वाच्यस्य विवक्षितत्वम्। तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता। लक्षणे तु वाच्यस्याविवक्षितत्वं तस्यार्थान्तरसंक्रमितत्वात्। तथाहि यत्रार्थान्तसंक्रमितवाच्यता, तत्र संवन्धनिवन्धनायां लक्षणायामुपादाने वाच्यविवक्षायामुदाहरणं 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इति। अत्र हि दिनाधिकरण-भोजनाभावविशिष्टतया पीनत्वलक्षणं कार्यं विवक्षितमेव सत्स्वसिद्ध्यर्थत्वेन सम्बन्धनिबन्धनायां लक्षणायां रात्रिभोजनात्मकं कारणमाक्षिपति। समवायनिबन्धनायां तस्यामुपादाने वाच्यस्य विवक्षितत्वम्, यथा-'छत्रिणो यान्तो'ति। अत्र हि यदा छत्री बहुत्वोपेतत्वात् स्वगतबहुत्वान्वयसंसिद्ध्यर्थत्वेन छत्रशून्यानप्याक्षिपति तदा समवायनिबन्धने छत्रशून्यानामुपादाने क्रियमाणे वाच्यश्छत्री विवक्षितः। तदेवं सम्बन्धसमवायनिबन्धनयोरुपादानात्मिकयोर्लक्षणयोर्वाच्यस्य विवक्षितत्वमुक्तम्।

सम्बन्ध और समवाय (सहचरण) में क्योंकि वाच्य विवक्षित और अविवक्षित दोनों रह सकता है (अतः वाच्यार्थ में द्विविधता रहती है। कहीं वह वाच्य विवक्षित रहता है, अतः उसका अत्यन्त तिरस्कार नहीं रहता; और कही उसके अविवक्षित होने के कारण अत्यन्त तिरस्कार रहता है, इस प्रकार उसका (वाच्य का) अत्यन्त तिरस्कार रहता है। इन सम्बन्धों की स्थिति में उपादानात्मकलक्षणा में उपादान वाच्य की विवक्षा रहती है अर्थात् 'छत्रिणो यान्ति' आदि उदाहरणों में छत्रधारी से भिन्न' इस लक्ष्य अर्थ के साथ 'छत्रधारी' पुरुष की भी विवक्षा रहती ही है। आचार्य सहृदय ने भी काव्यपद्धति में उसके विवक्षितान्यपर होने का वर्णन किया है : [अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्। अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्। ध्वनिकारिका २, १] लक्षणलक्षणा में वाच्य अविवक्षित रहता है,

*कोष्ठान्तर्गतः पाठोऽपूर्णत्वभानात्सम्पादकेन स्वयं पूरितः। अथवा 'तस्य नात्यन्तं तिरस्कारः' इति पाठः उत्तरवाक्यांशस्य कार्यः।

क्योंकि वहां वाच्यार्थ अर्थान्तर में संक्रमित रहा करता है। जब वाच्य अर्थान्तर में संक्रमित रहता है, उस स्थिति में सम्बन्धनिबन्धना लक्षणा के उपादान भेद में वाच्य की विवक्षा का उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' है। प्रस्तुत उदाहरण में दिन में होनेवाले भोजन के अभाव से विशिष्ट स्थूलतारूप कार्य विवक्षित रहता ही है, जो कि सम्बन्धहेतुक लक्षणा में रात्रि भोजनरूप कारण का आक्षेप कराता है। अर्थात् इस उदाहरण में क्योंकि उपादान लक्षणा है, अतः वाच्य अर्थ 'दिन में भोजन के अभाव के साथ साथ देवदत्त की स्थूलता विवक्षित है। किन्तु वह कार्य-कारणभाव सम्बन्ध के कारण रात्रि भोजन के आक्षेप का हेतु बन रहा है, अत; अर्थान्तर में विवक्षित भी है, इस प्रकार यहां अर्थान्तरसंक्रमितविवक्षितान्यपरवाच्य सम्बन्ध-निबन्धना लक्षणा होगी। समवाय निबन्धनालक्षणा में वाच्य को विवक्षा के उदाहरण—'छत्रिणो यान्ति, इत्यादि होंगे। प्रस्तुत उदाहरण में छत्रधारी एक ही है, जो कि अपने लिए प्रयुक्त बहुवचन की सिद्धि के लिए समवाय के कारण छत्र रहित जनों के आक्षेप का हेतु होता है। फलतः प्रस्तुत उदाहरण में समवाय(सहचरण) सम्बन्ध से छत्र रहित पुरुषों का आक्षेप होने पर वाच्य छत्री विवक्षित है, अतः यहां समवाय निबन्धना अर्थान्तरसंक्रमित विवक्षितान्यपरवाच्य लक्षणा होगी।

लक्षणात्मिकयोस्तु तयोर्वाच्यस्याविवक्षा न त्वत्यन्तं तिरस्कारः। लक्ष्यमाणद्वारेण कथंचित्कार्येऽन्वितत्वात्। तत्र सम्बन्धनिबन्धनायां लक्षणायामविवक्षितवाच्यत्व उदाहरणम्—'रामोऽस्मो'ति। अत्र हि रामशब्दवाच्यं दाशरथिरूपं व्यंग्यं धर्मान्तरपरिणतत्वात् स्वपरत्वेनानुपात्तं तस्मादविवक्षितं न त्वत्यन्ततिरस्कृतम्। व्यङ्ग्यधर्मद्वारेण वाक्यार्थे कथञ्चिदन्वितत्वात्। एवं 'गङ्गायां घोष' इत्यादावप्युन्नेयम्।

सम्बन्धहेतुक और समवायहेतुक लक्षणलक्षणा में भी वाच्य की अविवक्षा रहा करती है, किन्तु उसका अत्यन्त तिरस्कार नहीं होता; क्योंकि वह वाच्य अर्थ भी लक्ष्यमाण अर्थ के द्वारा कार्य में किसी न किसीप्रकार अन्वित रहता ही है। सम्बन्धनिबन्धालक्षणा में अविवक्षितवाच्यता का उदाहरण—'रामोऽस्मि' (सर्वं सहे) इत्यादि होगा। क्योंकि यहां रामपद का वाच्य दाशरथि (दशरथ का पुत्र) रूप अर्थ धर्मान्तर (अत्यन्त कष्टसहिष्णुत्वरूप धर्मान्तर) में परिणत हो जाता है। इसलिए वह मुख्यार्थ के रूप में गृहीत नहीं होता, अतः उसमें वाच्य अविवक्षित रहते हुए भी अत्यन्त तिरस्कृत नहीं रहता, क्योंकि व्यंग्य धर्म के रूप में वह वाक्यार्थ में कथमपि अन्वित रहता ही है। यही स्थिति 'गंगायां घोष' आदि उदाहरणों में भी है। [यहां भी गङ्गा पद का वाच्य प्रवाहविशेषरूप अर्थ तट अर्थ में परिणत हो जाता है, इसलिए वह अपने स्वरूप में गृहीत नहीं होता, अतः उसमें वाच्यविवक्षित नहीं रहता, किन्तु प्रतीयमान तटरूप अर्थ में गङ्गा पद वाच्य प्रवाहरूप

अर्थ में रहने वाले शीतलता पावनता आदि धर्म का बोध होता है, अतः उसे अत्यन्त-तिरस्कृत भी नहींकह सकते । अतः प्रस्तुत उदाहरण 'गङ्गाया घोषः' को भी अविवक्षितवाच्य-अर्थान्तरसंक्रमित-लक्षणलक्षणा का उदाहरण कहा जायेगा ।]

समवायसम्बन्धनिबन्धनायां तु लक्षणायामविवक्षितवाच्यता 'छत्रिणो-यान्ती'त्यत्रैवोदाहार्या । तथाहि, यदा छत्रित्वं बहुत्वान्वयान्यथानुपपत्त्या समुदायपरतयोपादीयते तदा समुदायस्य विवक्षितत्वाद् वाच्यस्याविवक्षा। एवमपिच समुदायान्तरभूतत्वात्समुदायद्वारेण छत्रिणोऽपि क्रियान्वयः सुलभ एव । अत एव चात्र वाच्यस्य नात्यन्तं तिरस्कारः । समुदाय-रूपान्तर्भूतत्वेन क्रियान्वितत्वात् । तदेवं सम्बन्धसमवायनिबन्धनयोर्लक्षणयोर्वाच्यस्य विवक्षितत्वमविवक्षितत्वं च' नत्वत्यन्ततिरस्कार इति स्थितम् ।

समवायसम्बन्ध निबन्धना अविवक्षितवाच्या लक्षणा का भी उदाहरण 'छत्रिणो यान्ति' हो सकता है । [पृष्ठ ५२ में इसे विवक्षितवाच्य लक्षणा का उदाहरण कहा गया है ।] क्योंकि यहां एक छत्रधारी के लिए बहुवचन के प्रयोग की उपपत्ति (संगति) के लिए 'छत्री' पद समुदाय अर्थ का लक्षक मान लिया जाता है । उस स्थिति में समुदाय की विवक्षा होने से छत्रधारित्वरूप वाच्य अविवक्षित हो जाता है । किन्तु इस अवस्था में भी क्योंकि छत्रधारी भी समुदाय के अन्दर निहित है, अतः समुदाय के द्वारा गमन क्रिया से उसका अन्वय बना ही रहता है । यहां वाच्य का अत्यन्त तिरस्कार नहीं रहता, क्योंकि समुदाय के अन्दर निहित होने से वाच्य अर्थं का भी गमन क्रिया से अन्वय बना ही रहता है। स्मरणीय है कि अभी पृष्ठ ५२ पृ० में उपर्युक्त उदाहरण 'छत्रिणो यान्ति' को विवक्षित वाच्य का उदाहरण कहा गया है और यहां अविवक्षित वाच्य का, अतः दोनों के परस्पर विरोधी होने का भ्रम हो सकता है । किन्तु वस्तुतः 'छत्रिणो यान्ति' एक ही वाक्य दो वक्ताओं द्वारा भिन्न-भिन्न उद्देश्य के लिए प्रयुक्त है, अतः वह एक वाक्य न होकर दो अलग अलग अर्थ की प्रतीति के लिए प्रयुक्त अलग अलग वाक्य हैं । एक स्थान पर उस वाक्य का अभीष्ट प्रधानतया गमन क्रिया है, साथ ही उसका कर्त्ता छत्रधारी और उसके अनुचर गौण रूप से विवक्षित हैं । उस स्थिति में प्रधान गमन क्रिया का कर्त्ता होने के कारण वाच्य अर्थ छत्रधारी नृपति विवक्षित रहता है; यद्यपि बहुवचन की असंगति दूर करने के लिए छत्र न धारण करने वाले सेवक आदि की प्रतीति भी हो जाती है । जबकि द्वितीय स्थल में 'छत्रिणो यान्ति' वाक्य से समुदाय रूप अर्थ प्रधानतया अभिप्रेत है, जिसकी प्रतीति लक्षणा के द्वारा हो रही है । इस स्थिति में समुदाय के अन्तर्गत होने के कारण यद्यपि छत्रधारी पुरुष (नृपति) अर्थं अत्यन्त तिरस्कृत तो नहीं रहता, किन्तु उस की विवक्षा फिर भी नहीं रहती; अतः वहां वाच्य अविवक्षित रहता है। यही दोनों में अन्तर है। इस प्रकार सम्बन्ध एवं

संभवायरूप लक्षणा के हेतु के रहने पर वाच्यविवक्षित अथवा अविवक्षित दोनों रह सकता है, अतः वह (वाच्यार्थ) अत्यन्त तिरस्कृत नहीं होता, यह निश्चित रूप से माना जा सकता है।

क्रियायोगनिबन्धनायां तु लक्षणायां शब्दगतावयवशक्त्यनुसरणे शब्दशक्तिमूलता लक्ष्यमाणस्यार्थस्य। तत्र च वाच्यस्यार्थस्य तिरस्क्रिया, यथा- 'पुरुषः पुरुष' इति। अत्र ह्येकेन पुरुषशब्देन विशिष्टजातीयस्यार्थस्योपात्तत्वादपरः पुरुषशब्दः स्ववाच्यव्यतिरेकेणैव क्रियायोगनिबन्धनया लक्षणया पुनरतिशयितृत्वमुपादत्ते। यत्र तु निमित्तसद्भावाद्वाच्येऽर्थे विवक्षित एव तस्यार्थान्तरस्य शब्दशक्त्यन्तरमूलतया व्यवस्थितस्याव्यवायः क्रियते तत्र तद्विपरीतता वाच्यार्थतिरस्क्रियावैपरीत्यम्। न खल्वत्र वाच्यस्यार्थस्य तिरस्क्रिया, अपितु विवक्षितत्वमेव, यथा 'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वमि'ति। अत्र हि शत्रुघ्नशब्दः शत्रुहननक्रियायाः कर्त्तृकत्वं क्रियायोगनिबन्धनया लक्षणयावगमयन्नपि स्वार्थं दाशरथिमुपमानतया प्रतिपादयति। तेन तस्य विवक्षितस्य स्वार्थतापि। यद्यपि चोपमेयपरत्वेनोपमानस्योपादानादेवंविधे विषयेऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यता सहृदयैरङ्गीक्रियते, तथापि क्रियायोगनिबन्धनलक्षणावसरे तावद् वाच्यस्योपमानत्वेनाङ्गीकृतत्वादतिरस्कृतवाच्यतापि भवति। तदेवं क्रियायोगनिबन्धनायामन्तःसंक्रान्तनानार्थवशतः क्वचिद्वाच्यं तिरस्क्रियते, क्वचित्तु विवक्ष्यत इति स्थितम्। एतच्च सर्वं बहुवक्तव्यत्वादिह न निरूप्यते। लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्। एतच्च विद्वद्भिः कुशाग्रीयया बुद्ध्या निरूपणीयम्। न तु झगित्येवासूयितव्यमित्यलमतिप्रसंगेन। तदेवं वाच्यस्य तिरस्कृतविवक्षायां विषयविभागो निरूपितः।

क्रियायोगनिबन्धना लक्षणा में शब्दगत अवयवशक्ति का अनुसरण होने के कारण लक्ष्यमाण अर्थ की प्रतीति शब्दशक्तिमूलक हुआ करती है। वहां वाच्य अर्थ अत्यन्ततिरस्कृत रहा करता है। उदाहरणार्थ—'पुरुषः पुरुषः' (सः पुरुषः पुरुषोऽस्ति) इत्यादि वाक्य देखे जा सकते हैं। यहां (प्रथम) पुरुष शब्द एक विशिष्ट (पुरुषत्व) जाति विशिष्ट व्यक्तिरूप अर्थ के बोधक के रूप में विद्यमान है; जबकि द्वितीय पुरुष शब्द अपने मुख्य अर्थ से भिन्न अतिशय विशेष से युक्त अर्थ का बोध क्रियायोगनिबन्धना लक्षणा के द्वारा कराता है। जहां निमित्त विशेष के रहने से वाच्य अर्थ विवक्षित बना रहता है और साथ ही अन्य शक्ति (लक्षणाशक्ति) द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थान्तर का बाधन करता है, वहां उस अर्थ को वाच्यार्थ से विपरीत अर्थात् वाच्य अर्थ का तिरस्कार करने वाला, अतएव विपरीत माना जाता

है। किन्तु यहां वाच्य अर्थ का तिरस्कार नहीं रहता, अपितु उसकी (वाच्यार्थ की विवक्षा ही रहती है; यह स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसी 'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्' इस वाक्य में अर्थान्तर प्रतीति में होती है। इस वाक्य में शत्रुघ्न शब्द क्रियायोग निबन्धना लक्षणा के द्वारा शत्रुहनन क्रिया के कर्त्ता की प्रतीति कराता हुआ अपने मुख्य दशरथ पुत्र रूप अर्थ को भी प्रतीति कराता है। इसलिए उसका मुख्य अर्थ भी विवक्षित रहता ही है। यद्यपि सहृदय अर्थात् ध्वनिवादी आचार्य ऐसे स्थलों में जहां उपमान वाचक पद का उपमेयपरत्वेन प्रयोग किया जाता है, वहां वाच्य को अत्यन्त तिरस्कृत स्वीकार करते हैं; तथापि क्रियायोगनिबन्धना लक्षणा की स्थिति में क्योंकि वाच्य उपमान के रूप में स्वीकृत रहता है, अतः वह अतिरस्कृत ही रहता है, फलतः उस स्थिति में उसे अतिरस्कृतवाच्य भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार क्रियायोगनिबन्धना लक्षणा में अनेक अर्थों के अन्तःसंक्रान्त होने के कारण कहीं वाच्य अर्थ तिरस्कृत हो जाता है, और कहीं वह विवक्षित रहता है, यह सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया जाता है। विस्तार भय से इस विषय का निरूपण यहां नहीं किया गया है। सहृदयों (ध्वनिवादी आचार्यों) द्वारा नवीन रूप से वर्णित ध्वनि लक्षणा का ही एक अङ्ग (लक्षणामार्गावगाही) है, इस दिशा का संकेत करने के लिए यहाँ विवेचन किया गया है [काव्यास्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः...... भाक्त-माहुस्तमन्ये। ध्वनिकारिका १, १]। विद्वान् जन कुशाग्र बुद्धि से इसका निरूपण स्वयं करें, न कि उन्हें तुरन्त असूया (निन्दा) करनी चाहिए यह मानकर हम विस्तार न करके यहीं संक्षिप्त कर रहे हैं। इस प्रकार अब तक वाच्य के तिरस्कार और विवक्षा के रहने पर होने वाले लक्षणा व्यापार (लक्षणा नामक अभिधान व्यापार) का निरूपण किया गया है।

इदानीं 'सकलशब्दाविभागात्मकस्य शब्दतत्त्वस्य यदा शब्दार्थसम्बन्ध-त्रितयरूपतया रज्जुसर्पतया विवर्त्तमानत्वं तदैतदभिधावृत्तं दशविधव्यवहा-रोपारोहितयोपपद्यते, न तु संहृतार्थवाक्तत्त्वविषयतये'ति दर्शयितुमाह :—

विवर्तमानं वाक्तत्त्वं दशधैवं विलोक्यते ॥१२॥
संहृतक्रमभेदे तु तस्मिंस्तेषां कुतो गतिः।

सकलशब्दाविभागात्मनः शब्दतत्त्वस्य प्रमातृप्रमाणप्रमेयप्रमितिरूपेण प्रकारचतुष्टयेन प्रत्येकं वाच्यवाचकतत्सम्बन्धप्रपञ्चभाजो रज्जुसर्पवद्विवर्त्त-मानस्य निरूपितैवंविधदशविधाभिधावृत्तसंबन्धित्वम्। अप्रत्यस्तमितसकल विकल्पोल्लेखोपप्लवत्वे तु क्रमभेदसंहारेण तस्मिन्वाक्तत्त्वे विवर्त्तमाने तेषां दशानामभिधावृत्तानां 'कुतोगतिः' नैव प्रसर इत्यर्थः।